पुस्तक प्राप्तिस्थान—
श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार,
ठि. गोपीपुरा, ओसवाल मोहला,
मु० सुरत (गुजरात)।

श्री सङ्घपट्टक के द्रव्य साहाय्यक महाशयों की शुभ नामावली:—

४५०) बाबू प्रसन्नचन्दजी बोथरा .... कलकत्ता।

२५०) बाबू गोविन्दचन्दजी भुरा .... कलकत्ता।

२५०) महासमुंद श्रीसङ्घ के ज्ञानखाते से—
हस्ते—हणुतमलजी पींचा .... महासमुंद।

१०१) स्व० गुलाबचंदजी सेठिया स्मरणार्थ—
तत्पुत्र तेजमलजी सेठिया.... .... बालाघाट।

१०१) श्रीयुत् सुखलालजी जसकरणजी चोपड़ा.... .... राजनांदगांव।

१५१) खुशालचंद लुणावत धर्मपत्नी सौभाग्यवती मंगुबाई नरसिंहपुर।
२१) एक बाई की तरफ से नरसिंहपुर।

मुद्रक :—
शाह गुलाबचंद लल्लुभाई,
श्री महोदय प्री. प्रेस—भावनगर।

—: नि....वे....द....न :—

संघपट्टक, जो आप के करकमलों में विराजित है, के—रचयिता आचार्य श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज हैं। उनका अस्तित्व समय वि. सं. ११२५—६७ है, जैसा कि—श्री जिनचंद्रसूरि रचित संवेगरंगशाला से सिद्ध है। सूरिजीने उपर्युक्त ग्रन्थ का संशोधन वि. सं. ११२५ में किया था[1]। इस संघपट्टक की रचना आकस्मिक घटना नहीं पर एक सत्याश्रित सिद्धान्त पर आधृत है।

श्री जिनवल्लभसूरिजी के जीवन से ज्ञात होता है कि, उनका चित्रकूट—चितौड़ में अच्छा प्रभाव था। आपने वहाँ पर, अनेक प्रकार के कष्ट व यातनाएँ सह कर, जैन शासन की जो सेवा की है, वह उल्लेखनीय है। जैन संस्कृति के इतिहास में इन सेवाओं का बहुत बडा महत्त्व है। यही कारण है कि, चित्तौड का श्री संघ सूरिजी का परम भक्त और आज्ञानुवर्ती था। आप के सदुपदेश से, वहाँ के श्रावकोंने शासननायक महावीरस्वामी का नवीन विधिचैत्य निर्माण करवाया था। सूरिजी द्वारा ही इस की प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ था और संघ व्यवस्था सूचक प्रस्तुतः "संघपट्टक" मूल, (४० श्लोक) उपर्युक्त विधिचैत्य के मुख्य द्वार पर पाषाण—शिला पर खुदवा कर, लगाया गया था, जैसा कि अंचलगच्छीय श्री महेन्द्रसूरि प्रणीत 'शतपदी' से सिद्ध होता है।

जैन साहित्य में, इस ग्रन्थ का स्थान कितना आदरणीय समझा जाता है, इस का अध्ययन कितने व्यापक रूप से होता आया है, इस का ज्ञान हमें, उन वृत्तियों से होता है, जो समय समय पर, विभिन्न आचार्य, मुनि और जैन गृहस्थों द्वारा इस पर रची गयीं, टीकाओं से विदित होता है कि मध्यकालीन जैन संस्कृति और साहित्य में यही एक ऐसी मूल्यवान् कृति है, जिस पर प्रकाण्ड पंडितों को भाष्य लिखना पडा। यह आकर्षण व्यक्तिमूलक नहीं पर गुणमूलक है।

अद्यावधि रचित वृत्तियों की संख्या आठ तो ज्ञात हो चुकी है। इन का उल्लेख प्रो.

१, जैसलमेर जैन भण्डार सूची, पृ २१।

हरि दामोदर वेलणकर गुम्फित "जिनरत्नकोश" में हुआ है। वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ व प्राचीन "बृहद्वृत्ति" है, जिसका प्रणयन प्रकाण्ड पंडित और शास्त्रार्थी श्रीजिनपति-सूरिजी म. द्वारा हुआ। यह वृत्ति क्या है? एक प्रकार से महाभाष्य है। इस में आचार्य महाराजने अपने सैद्धान्तिक ज्ञानबल से तर्कयुक्त शैली में, सुन्दर रूप से मूल ग्रन्थगत विषय का समर्थन किया है।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है, जिन का परिचय इस प्रकार है—

प्रति परिचय—

(१) **A संघपट्टक-अवचूरि, साधुकीर्ति गणि रचित, रचनाकाल सं. १६१९।**

यह "प्रति" मुनि कान्तिसागरजी के निजी संग्रह की है। पत्र ६, त्रिपाठ, जिस का चित्र इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है। इस की लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—

"सं. १८५३ वर्षे कार्तिक कृष्णपक्षे पञ्चम्यां कर्म्मवाट्यां ॥पं.॥ सीमविजय मुनिना लिलेखि श्री फलवर्द्धिकायां चतुर्मासी चक्रे ॥ श्रीरस्तु ॥

B संघपट्टक-अवचूरि,

यह "प्रति" बाबू पूर्णचंदजी नाहर के संग्रह से उनके सुयोग्य-पुत्र राष्ट्रसेवी श्री विजयसिंहजी नाहर की उदारता से प्राप्त हुई थीं। वि. सं. २००३-४ के हमारे कलकत्ता चतुर्मास के समय इस की प्रतिलिपि करली गयी थी। प्रति सुंदर सुवाच्य व प्रायः शुद्ध है।

(२) **A संघपट्टक-टीका, कर्त्ता, लक्ष्मीसेन, रचनाकाल सं. १५१३,**

इसकी "प्रति" हमें रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल के

---

१ प्रकाशक; श्रावक जेठालाल दलसुख, अमदावाद, स. १९६३, बृहद्वृत्ति का यह भाषान्तर पठनीय है और आज की स्थिति को देखते हुए विचारणीय भी।

२ आचार्य महाराज न केवल स्वयं अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ही थे अपितु विद्वत्परम्परा के निर्माता भी थे। आप के अधिकतर शिष्य उच्चकोटि के ग्रन्थ रचयिता व प्रखर पाण्डित्यपूर्ण विचारपरम्परा के स्रष्टा थे।

अन्तर्गत "ओरियण्टल लायब्रेरी" से प्राप्त हुई थी। सापेक्षतः यह प्राचीन है। अन्तिम इस प्रकार है—

॥ इति श्री संघपट्टकस्य टीका परिपूर्णा, लिखिता पं. विनयसोमेन, स्ववाचनार्थम् ॥

B संघपट्टक-टीका, यह "प्रति" अनुयोगाचार्य स्व० श्री केशरमुनिजी गणि के शिष्य मुनिवर पं. बुद्धिमुनिजी गणिने प्रतिलिपि भेजी थी।

(३) A संघपट्टक-लघुवृत्ति, कर्ता-हर्षराज उपाध्याय,

यह "प्रति" हमें श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थी। मूल प्रति "भांडारकर ऑरियण्टल रीसर्च इन्स्टिटच्यूट"-पूना में सुरक्षित है। पत्र संख्या २७, प्रति प्राचीन व पंच पाठ है। इस की लिपि बहुत सुन्दर और सुपाठ्य है। देखिये ब्लोक।

B संघपट्टक-लघुवृत्ति, यह "प्रति" अनुयोगाचार्य स्व० श्री केशरमुनिजी गणि के शिष्य मुनिवर पं. बुद्धिमुनिजी गणिने इस की प्रतिलिपि भिजवाई थी। मूल प्रति के लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—

संवत् १६०८ वर्षे माह सुदि ५ दिने शनिवारे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनमाणिक्यसूरिविजयराज्ये श्रीविक्रमनगरे गणधर-चोपडागोत्रे सा० देवराजस्तत्पुत्र सा० जगसिंहस्तत्पु० सा० कम्मा भा० श्रा० कौतिकदेवाः पु० रत्न सा० रायपाल सुरताण संसारचंद प्रमुखपरिवारयुतेन सा० रायपालेन ज्ञानपञ्चमीतपस उद्यापने श्रीसङ्घपट्टकलघुवृत्तिप्रतिर्विहरापिता श्रीधनराजोपाध्यायानां। वाच्यमानं चिरं नन्दतु ॥ शुभं कल्याणमस्तु। श्रीधनराजोपाध्यायमिश्रैः प्रसादीकृता प्रतिरियं वा० जयसुन्दरगणेः। शुभं भवतु लेखकपाठकयोः। कल्याणमस्तु। श्रीः।

आभार—

सर्वप्रथम हम परमपूज्य गुरुवर्य्य उपाध्याय पद विभूषित १००८ सुखसागरजी महाराज सा. के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनके सतत् श्रम से यह

---

१. सं. २००३-२००४ कलकत्ता में।

संस्करण तैयार हो सका। इस में प्रयुक्त प्रतियों के प्रेषण में जिन महानुभावों (नाम ऊपर प्रासंगिक रूप से आ चुके हैं) सहायता कर हमारा कार्य सरल किया, उनको, व पूज्य गुरुदेव के सदुपदेश से जिन जिन श्रावकोंने, ज्ञानवृद्ध्यर्थ आर्थिक मदद की, उन सब को **धन्यवाद** देना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य कर्त्तव्य समझते हैं। श्री जिनवल्लभ-सूरिजी महाराजा का जो चित्र (काष्ठपट्टिका) प्रकाशित किया जा रहा है, उसका ब्लोक बीकानेर से भँवरलालजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुआ था। तदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस के शोधन में दृष्टिदोष से या तथाकथित कारण से यदि स्खलना रह गई हों तो पाठक सहानुभूतिपूर्वक सुझाने का कष्ट करेंगे।

सिवनी, (सी० पी०)
श्रा० शु० ७, स. २००९

शुभाकांक्षी,
मुनि मंगलसागर

समर्पण

जंगम–युगप्रधान–भट्टारक–१००८

श्री जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

परम गुरुवर्य्य

के

करकमलों में श्रद्धापूर्वक

समर्पित

मुनि मंगलसागर

उपोद्घात

जुगपवरागमपीऊस–पाणपीणियमणाकया भव्वा । जेण जिणवल्लहेणं, गुरुणा तं सव्वहा वंदे ॥

जिस समय चैत्यवासी आचार्यगण ज्ञानवाद को प्रधानता देकर भगवत्प्ररूपित सैद्धान्तिक आचरणों की अवहेलना कर रहे थे, भगवन्नाम से ही चैत्यों में निवास कर रहे थे, मठपतियों की तरह चैत्यों के सर्वाधिकारी बन कर वैभव साम्राज्य में आनन्द–उत्सव मना रहे थे, उस समय में इस चैत्यवास की दुर्व्यवस्था से व्यथित होकर सर्वप्रथम आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने इस दुराचार का उग्र विरोध किया था, पर इसका कोई ठोस परिणाम हुआ हो, कहा नहीं जा सकता ।

तदनन्तर प्रमुखरूप से उग्र विरोध करनेवाले आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि हुए, जिन्होंने चैत्यवासियों की प्रमुख नगरी अणहिलपुरपत्तन में जाकर, महाराजा श्री दुर्लभराज के समक्ष चैत्यवासि आचार्यों के सन्मुख ही सैद्धान्तिक आचरणाओं की शुद्ध प्ररूपणा कर सुविहित पक्ष [खरतर पक्ष] की स्थापना की थी । सुविहित पक्षीय आचरणाओं के प्ररूपक और चैत्यवासी उन्मार्गगामिता के निर्देशक रूप में ही इस काव्यरचना हुई थी ।

काव्यकार–इस काव्य के प्रणेता 'श्रीजिनवल्लभगणि' हैं । यह इस काव्य ३८वीं कारिका से स्पष्ट है—

विभ्राजिष्णुमगर्वस्मरमनासंदं श्रुतोल्लेखेन, सज्ज्ञानैर्युमर्गि जिनं वरवपुः श्रीचंन्द्रिकाभेश्वरम् ।
वन्दे वर्ण्यमनेकधासुरनरैः शक्रेग चैनैच्छिदं, दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरङ्गप्रदम् ॥
॥ ३८ ॥ "जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे"

ये जिनवल्लभ गणि कौन थे ? कहां के थे ? किनके शिष्य थे ? इत्यादि विषयों का निर्णय बाह्य एवं अन्तरङ्ग प्रमाणों से किया जा सकता है ।

श्रीजिनपतिसूरि शिष्य श्री**जिनपालोपाध्यायप्रणीत**' खरतरगच्छालङ्कार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में और श्री**सुमतिगणि**रचित गणधरसार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति में इस प्रकार उल्लेख मिलता है ।

जिनवल्लभ आसिका दुर्गनिवासी कूर्चपुरीय श्रीजिनेश्वराचार्य के शिष्य थे । सिद्धान्ताध्ययन के लिये पत्तन–स्थित आचार्यप्रवर श्रीअभयदेवसूरि के पास गये थे । आगमाध्ययनोपरान्त सुविहित आचरणाओं से प्रभावित होकर, गुरु जिनेश्वराचार्य की आज्ञा प्राप्त कर, चैत्यवास का त्याग कर उन्होंने अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा ग्रहण की । इन्हीं को अभयदेवाचार्य के विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य के शिष्य श्री **देवभद्राचार्य**ने सं ११६७ चित्रकूट में **अभयदेवाचार्य** के पट्ट पर **अभिषिक्त** कर जिनवल्लभसूरि नाम उद्घोषित किया, और सं ११६७ के ही कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ ।

इन तीन्हीं प्रसंगों की पुष्टि अन्य खरतरगच्छीय पट्टावलियों से भी होती है ।

१. जिनवल्लभ आसिका दुर्गनिवासी चैत्यवासी श्रीजिनेश्वराचार्य के शिष्य थे ।

२. श्रीअभयदेवाचार्य के पास सिद्धान्तों के अध्ययन के लिये वे गये थे, और पीछे से आचार्यश्री के पास ही उपसम्पदा ग्रहण की थी, अर्थात् अभयदेव के ही शिष्य बने थे।

३. श्रीदेवभद्राचार्यने ही इन को अभयदेवाचार्य के पट्ट पर स्थापित किया था।

अन्तरङ्ग प्रमाणों में स्वरचित (जिनवल्लभरचित) 'प्रश्नोत्तरैकषष्ठिशतक काव्य' जो उपसम्पदा से पूर्व ही रचा गया था उसमें वे श्रीजिनेश्वराचार्य को '[1]**मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः**' सम्बोधन से और आचार्य श्रीअभयदेव को '**सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुताः विश्रुताः श्रीमदभयदेवाचार्याः**' सम्बोधन से व्यक्त करते हैं। इस से यह तो निश्चित हो ही जाता है कि जिनेश्वराचार्य इनके **मूल दीक्षागुरु** थे, और **सैद्धान्तिक** (विद्यागुरु) गुरु थे आचार्य अभयदेव।

(२) इन्हीं श्रीजिनवल्लभगणिरचित **सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण** (सार्द्धशतक) पर बृहद्-गच्छीय **श्रीधनेश्वराचार्यने** स. ११७१ में टीका की रचना की है। उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते वे लिखते हैं कि—

"जिणवल्लहगणित्ति" जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्राहिस्थानाङ्गाङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्र वृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्त्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण लिखितं कर्मप्रकृत्यादिगम्भीर-शास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य इत्थं जिनवल्लभगणिलिखितम्।"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत है कि 'जिनवल्लभगणि नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे।'

तदुपरान्त सुविहितपक्षीय **जिनेश्वराचार्य** के पट्टधर आचार्यप्रवर **श्रीजिनचन्द्रसूरि** रचित **संवेग-रंगशाला** की पुष्पिका "इति श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिकृता तद्विनेय श्रीप्रसन्नचन्द्रसूरि समभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि [ना] प्रतिसंस्कृता, जिगवल्लभगणिना च संवेगरङ्गशालाऽऽराधना समाप्ता।" से यह नूतनवस्तु प्रकाश में आती है कि-गुणचन्द्र गणि जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए; उनने संवेगरंगशाला-जिसकी रचना ११२५ में हुइ थी-उसका संस्कार किया और श्रीजिनवल्लभ गणिने उसका संशोधन किया। इस से भी यही सिद्ध होता है कि, वि सं. ११२५ के पूर्व ही श्रीजिनवल्लभने अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा ग्रहण करली थी।

श्रीजिनवल्लभ उपसम्पदा पूर्व 'गणि' नहीं थे, यह बात के-उपसम्पदा पूर्व रचित उनके जो दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। उनकी निम्ननिर्दिष्ट पङ्क्तियों से प्रतीत होता है-प्रथम कृति पार्श्वनाथस्तोत्र पद्य ३३ [आदिः-नमस्यद्गीर्वाणाधिपतिनृपतिस्तोमविनयत्'] में '[3]मया प्रथमकाभ्यासात्' कह कर अपना नाम केवल

---

१ "क. स्यादम्भसि वारिवायसवति ? क द्वीपिनं हन्त्ययं ?,
लोक (कं) प्राह हय. प्रयोगनिपुणै. क. शब्दधातुः स्मृत ?।
ब्रूते पालयिताऽत्र ? दुर्धरतरः क्व क्षुभ्यतोऽम्भोनिधेः ?,
ब्रूहि श्रीजिनवल्लभस्तुतिपदं कीदृग्विधाः के सताम् ?" ॥ १५९ ॥ "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय."

२. 'पाके धातुरवाधिक ? क भवतो भीरो मनः प्रीतये ?, सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति विद्वज्जना. ?। पाणौ किं मुरजिद्बिभर्त्ति ? भुवि त ध्यायन्ति वा के सदा ?, के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ?।१५८।' "श्रीमदभयदेवाचार्याः"

३. अज्ञानाद्गणिति स्थितेः प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्। किञ्चिरसम्भ्रमहर्षविस्मयवशाच्चायुक्तमुक्तं मया ॥३३॥

[1]जिनवल्लभ सूचित करते हैं। और इसी प्रकार **प्रश्नोत्तरैकषष्ठिशतककाव्य** में भी '[2]जिनवल्लभेन' पद से भी यही सूचित करते हैं। अत उपसम्पदा पश्चात् ही आचार्य अभयदेवने 'गणि' पद प्रदान किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इनके अलावा इन्हीं के पट्टधर युगप्रधान **श्रीजिनदत्तसूरि** खरचित गणधरसार्द्धशतक में ५० आर्याओं से '**सूरिजिनवल्लहो**' की स्तुति करते हैं तथा अपने प्रणीत समस्त ग्रन्थों में 'जिनवल्लभसूरि' को नमस्कार एवं उनकी स्तुति तो श्रद्धापूर्वक करते ही हैं।

अत ऊपरि उल्लिखित वाह्य एवं अन्तरङ्ग प्रमाणों से यह निश्चित है कि जिनवल्लभ गणि सुविहित [खरतरगच्छीय] श्रीअभयदेवचरि के शिष्य एव पट्टधर थे।

ग्रन्थरचना।

गणिवर १२वीं शती के उद्भट विद्वानों में से एक थे। इनका अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। इनने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु दैव दुर्विपाक से वहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट हो गए। और इस वजह इस समय इनके केवल ४३ ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न है—

१ सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण (सार्द्धशतक), २ आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण (षडशीति), ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण, ४ द्वादशकुलक, ५ धर्मशिक्षा प्रकरण, ६ संघपट्टक, ७ पौषधविधि प्रकरण, ८ प्रतिक्रमण समाचारी प्रा. गा ४०, ९ आप्तपरीक्षा (उल्लेख-षडावश्यक वाला. तरुणप्रभसूरिकृत), १० प्रश्नोत्तरैकषष्ठिशतकाव्यम्, ११ शृङ्गारशतक (अनुपलब्ध), १२ स्वप्नाष्टकविचार (अनुपलब्ध), १३ अष्टसप्तति (अनुपलब्ध), १४ सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव प्रा गा , १५ श्रावकव्रतकुलक प्रा. गा , १६-२० आदिनाथादि चरित्र पञ्चक सं , २१ वीरचरित्र (जयमववण०) प्रा गा. १५, २२ भावारिवारण स्तोत्र गा ३०, २३ लघु अजितशान्तिस्तव (उल्लासि०) प्रा गा १७, २४ पंचकल्याणकस्तव (सम्मं नमिउण०) प्रा गा २६, २५ सर्वजिनपञ्चकल्याणक स्तव (पणमिय सुर०) प्रा. गा ८, २६ पञ्चकल्याणक स्तोत्र (प्रीतिद्वात्रिंशत्) स पद्य १३, २७ कल्याणक स्तव (पुरन्दरपुरस्पर्द्धि) सं. पद्य ७, २८ महाभक्तिगर्भासर्वविज्ञप्तिका (लोयालोय०) प्रा गा २७, २९ पार्श्वस्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण) सं. पद्य ३३, ३० पार्श्व स्तोत्र (पायात्पार्श्व) सं पद्य ३९, ३१ पार्श्वस्तोत्र (सिरि–भवणधमणपुरे) प्रा गा ११, ३२ पार्श्व स्तोत्र (त्वमेव माता त्वं पिता) सं. प. ९, ३३ पार्श्व स्तोत्र ( ) , ३४ महावीरविज्ञप्तिका (सुरनरवइकयवंदण) प्रा गा. १२, ३५ वीतरागस्तुति. (देवाधीशकृते) स प १०, ३६ ऋषभजिन स्तोत्र (सयलभुवणिद्ध) प्रा. गा ३३, ३७ क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वस्तोत्र (नमिरसुरासुर) प्रा. गा २२, ३८ नंदीश्वरस्तोत्र (वदिय नदिय) प्रा. गा. २५, ३९ सर्वजिनस्तोत्र (प्रीतिप्रसन्नमुख) सं प. २३, ४० चतुर्विंशति जिन स्तोत्र (भीमभव.) प्रा गा १४४, ४१ ऋषभस्तुति. (मरुदेवीनाभि०) प्रा गा ४, ४२ सरस्वती स्तोत्र (सरभसलसद्) सं. प २५, ४३ नवकारस्तव (किं किं कप्पतरु) अपभ्रंश १३।

---

१. पद्य ३२.   २ पद्य १५९, १६०.

इन [1]ग्रन्थो में सार्द्धशतक, षडशीति और [2]पिण्डविशुद्धि ये तीनों ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही महत्व के थे। इन ग्रन्थों पर आचार्य मलयगिरि, धनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, श्रीचन्द्राचार्य आदिने तत्काल ही अर्थात् १२वीं शती में ही टीकाएं रचकर इनकी सार्वजनिक उपयोगिता द्योतित की, और इनके प्रायः समग्र ग्रन्थों पर अनेकों टीकाए प्राप्त होती हैं।

१. इनके समग्र मूल ग्रन्थों का 'वल्लभभारती' के नाम से मैं सम्पादन कर रहा हूँ। उसमें 'गणिजी' के काव्यवैशिष्ट्य पर प्रकाश डालूगा। अत यहा पर उनकी विशदप्राज्ञता पर विचार नहीं कर रहा हूँ।

२. क्या पिण्डविशुद्धि के कर्त्ता पृथक् हैं?

वर्त्तमान युग में कई मुनिगण 'पिण्डविशुद्धि के कर्त्ता खरतर जिनवल्लभ नहीं है किन्तु इसी नाम के कोई पृथक् आचार्य की यह रचना है' ऐसा मानते है। उनमें अग्रगण्य माग पंन्यास मुनि-**मानविजयजी** भजते है। वे अपनी [1]पिण्डविशुद्धि की प्रस्तावना में गच्छव्यामोह से अनेक बातें इतिहासविरुद्ध, प्रमाणाभाव सह, स्वकपोलकल्पनोद्भावित अनेक प्रकारकी शकाए उपस्थित कर ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि-श्री जिनेश्वरसूरि, श्रीअभयदेवसूरि सुविहितपक्षीय (खरतरगच्छीय) नहीं थे, उनका यह प्रतिपादन कहां तक युक्तियुक्त है? इसका विचार मैं अपनी 'वल्लभभारती' की प्रस्तावना में विशद्रूप से करूगा। किन्तु जिनवल्लभ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका साराश प्रस्तावना पृष्ठ २-३-४ में निम्नलिखित है—

"१. जिनवल्लभसूरि खरतर है इस प्रकार का प्रलाप स्वगच्छ का उत्कर्ष बढाने के लिये किया गया है।

२. षट् कल्याणक की उत्सूत्रप्ररूपणा करने के कारण खरतर जिनवल्लभ को संघबहिष्कृत किया गया था अतः अभयदेवाचार्य के शिष्य भी नहीं हो सकते।

३ तत्कालीन रचित टीकाओं में किसी भी टीकाकार आचार्यने यह निर्देश नहीं किया कि वे खरतरगच्छीय थे और अभयदेवाचार्य के शिष्य थे।

४. ऐसे सङ्घ-बहिष्कृत उत्सूत्र प्ररूपक के ग्रन्थ पर श्रीचन्द्रसूरि जैसे समर्थ टीकाकार टीका नहीं रच सकते। अत. यह सुस्पष्ट है कि पिण्डविशुद्धिकार खरतर नहीं है, किन्तु पृथक् एतन्नामधारक कोई आचार्य हैं।

इस मान्यता पर विचार करें तो केवल यही प्रतीत होता है कि प्रस्तावना लेखक ऐतिहासिक परपराओं से अनभिज्ञ हैं। प्रमाणों में केवल **सेनप्रश्न** का प्रमाण दिया है। इस प्रमाण से भी किसी जगह पिण्डविशुद्धिकार पृथक् हैं, इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पडता।

दूसरी बात-जिनवल्लभसूरि १२वीं शताब्दि में हुए हैं, और सेनप्रश्नकार १७वीं शताब्दि में तथा सेनप्रश्न की रचना भी उपाध्याय धर्मसागरजी के उन्मार्गप्ररूपणा के पश्चात् ही हुई है, अत. धर्मसागरीय ग्रन्थों का प्रभाव इस पर पूर्णरूप से पडा है। अत· ऐसी अवस्था में ग्रन्थकार के जीवन और ग्रन्थों पर विचार करने के लिये सेनप्रश्न का उपयोग कथंचित् भी नहीं किया जा सकता। परन्तु तत्कालीन प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही निर्णय करना चाहिये कि-क्या जिनवल्लभ उत्सूत्रप्ररूपक थे? संघबहिष्कृत थे? और अभयदेवाचार्य के शिष्य नहीं थे?—

'गणिजी' की षट्कल्याणक प्ररूपणा-उत्सूत्रप्ररूपणा नहीं थी, किन्तु सैद्धान्तिक प्ररूपणा ही थी। यदि उत्सूत्रप्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते; और दुर्दम

१. श्रीचन्द्रसूरि टीका सह विजयदानसूरि ग्रन्थमाला सूरत स. १९९५ में प्रकाशित।

कदम भी उठाते !—पर आश्चर्य है कि इस प्ररूपणा का किसी भी आचार्यने इसका विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेकों उपलब्ध होते हैं। अत यह सिद्ध है कि-यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य-सी ही थी।

परन्तु इसका सर्वप्रथम विरोध, १७वीं शती में 'खरतरों के उपजीव्य न हों' इस दृष्टिविन्दु को रखकर अभयदेवाचार्य को पृथक् करने के निमित्त उद्भट विद्वान् उपाध्याय धर्मसागरजीने किया। तत्पश्चात् यह वाद गच्छवाद के रूप में स्वीकृत हो गया और परम्परा से चलता रहा, जो आज भी विद्यमान है।

उ० धर्मसागर को इस उन्मार्ग प्ररूपणा के कारण तत्कालीन तपगच्छ सम्राट् पू. **श्रीविजयदानसूरिने** ७ बोल निकालकर, इनके एतद्विषयक ग्रन्थों को जलशरण किया, और उ०जी को गच्छबहिष्कृत[1] भी। इसी प्रकार सूरिसम्राट् **श्रीहीरविजयसूरिजी** म०ने भी इनके प्रति ११ बोलों का आदेशपत्र निकाला था। अत. **ऐसे [2]व्यक्ति का विरोध शास्त्रसम्मत नहीं माना जा सकता।**

और **जिनवल्लभ** गणिने अपने स्तोत्रों में सामान्यापेक्षया पंचकल्याणक लिखे हैं तो भी विशेषापेक्षया षट्कल्याणक की प्ररूपणा में किञ्चिद् भी वाधा उपस्थित नहीं होती।

वस्तुत षट्कल्याणक प्ररूपणा शास्त्रोचित है या नहीं? इसका विचार मेरे दिवगत पूज्येश्वर गुरुदेव **श्रीजिनमणिसागरसूरिजी** म०ने **षट्कल्याणकनिर्णयः** में विशदरूप से किया है, उसको देखकर ही निर्णय करना चाहिए।

अत जव 'जिनवल्लभ' उत्सूत्रप्ररूपक ही नहीं हैं तो फिर संघ वहिष्कृत की मान्यता तो कपोलकल्पित ठहरती ही है। यदि प्रस्तावना लेखक के पास संघवहिष्कृत का कोई भी प्रमाण हो तो उपस्थित करें। उस पर अवश्यमेव विचार किया जायगा।

पूर्वोद्धृत सार्द्धशतक की टीकानुसार नवाङ्गवृत्तिकारक श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभ हैं ही।

यदि विचार करें कि पिण्डविशुद्धिकार पृथक् है? तो फिर वे कौन थे और किस गच्छ के थे? इनके एतद्विषयक कोई प्रमाण नहीं मिलता है। तत्कालीन ३-४ शताब्दियों में खरतर जिनवल्लभगणि से पृथक् कोई आचार्य की उपलब्धि ही जैन साहित्य में नहीं होती है। और इनके सम्बन्ध में खरतरगच्छीय गुरुपरम्पराओं के अतिरिक्त उल्लेख भी नहीं मिलता। अत. यह सिद्ध है कि पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभगणि पृथक् नहीं है, किन्तु अभयदेवाचार्य के शिष्य खरतरगच्छीय ही है। और इनके सिद्धान्त सर्वमान्य भी हैं।

सङ्घपट्टक—प्रस्तुत काव्य की रचना 'गणिजी' के जीवन की चरमोत्कर्ष कहानी है। उपसम्पदा के पश्चात् चैत्यवास का सक्रिय विरोध कर आमूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में इनको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। इनके पश्चात् युगप्रधान **श्रीजिनदत्तसूरि** और आचार्यप्रवर **श्रीजिनपतिसूरिने** तो अपने सवल प्रयत्नों से इस परपरा का उच्छेदन ही कर डाला था। गणिजीने इस लघु काव्य में तत्कालीन चैत्यवासी आचार्यों की शिथिलता, उनकी उन्मार्गप्ररूपणा और सुविहितपथ-प्रकाशक गुणिजनों के प्रति द्वेष इत्यादि का सुन्दर विश्लेषण किया है।

इस काव्य में ४० पद्य हैं। उनमें प्रथम श्लोक में श्रीपार्श्वनाथ को नमस्कार कर 'पण्डितों को कुपथ

---

१. देखें श्री अगरचन्द भवरलाल नाहटा द्वारा लिखित युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि।

२. ऐतिहासिक राससंग्रह. (विजयतिलकसूरि-रास) भाग ४।

त्याग करनेका उपदेश दिया है। दूसरे पद्य में श्रोताओं की योग्यता को दिखलाया है। ३–४ पद्य में उपमाओं द्वारा चैत्यवासियों को 'जिनोक्ति प्रत्यर्थी' सिद्ध करते हुए पूर्व पद्य में १ औद्देशिक भजन, २ जिनगृह में निवास, ३ वसतिवास के प्रति मात्सर्य, ४ द्रव्यसंग्रह, ५ श्रावक भक्तों के प्रति ममत्व, ६ चैत्य स्वीकार (चिन्ता), ७ गद्दी आदि का आसन, ८ सावद्य आचरणा, ९ सिद्धान्तमार्ग की अवज्ञा और १० गुणियों के प्रति द्वेष का विवेचन। इस प्रकार विवेचनीय दश द्वारों का उल्लेख किया है। ६ से ३३ पद्य पर्यन्त दश द्वारों का विशद् वर्णन किया है। ३४–३५ में ग्रन्थरचना का कारण कह कर, ३६–३७ में सुविहित साधु-वृन्द के पूताचार की प्रशसा की है। ३८वें ३९–४०वें पद्य में भसकम्लेच्छ सैन्य की उपमा प्रदान कर कदर्थना करते हुए उपसंहार किया है।

इस लघुकाय चार्चिक ग्रन्थ को भी गणिजीने निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, रूपक, उपमा, अनुप्रासादि अलंकारों से सज्जित कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। साथ ही इस में स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, द्विपदी, पृथ्वी, मालिनी, वसन्ततिलका, आदि ८ पृथक् २ छन्दों में ग्रथित कर छन्दशास्त्र पर एकाधिपत्य भी सिद्ध किया है। समग्र काव्य ओज.गुण से परिपूर्ण होने के कारण पाठक के हृदय में भी आनन्द ही उत्पन्न कर देता है।

सङ्घपट्टक की टीकाएँ—इस लघु काव्यग्रन्थ पर अनेक मनीषियोंने भाष्य, वृत्ति, अवचूरि, बालावबोध आदि रच कर इसकी महत्ता, उपयोगिता स्थापित की है। वर्त्तमान में इस पर वृत्ति आदि ८ आठ वृत्तियें ही प्राप्त होती हैं। जिसकी तालिका निम्नलिखित है।

१ बृहद्वृत्ति	जिनपतिसूरि	२ लघुवृत्ति	श्रीलक्ष्मीसेन	३ लघुवृत्ति	हर्षराज गणि
४ अवचूरि	उ. साधुकीर्त्ति	५ पञ्जिका	देवराज	६ षष्ठवृत्ति	विवेकरत्नसूरि
७ षष्ठवृत्ति	(?)×	८ बालावबोध	उ लक्ष्मीवल्लभ।		

इनमें आचार्य श्रीजिनपतिसूरि की टीका सब से बडी है और सर्वश्रेष्ठ भी। यह टीका अनुवाद सह पूर्वमें प्रकाशित हो चुकी है। फिर हाल यह ग्रन्थ अवचूरि और दो लघुवृत्तियों के साथ प्रकाशित हो रहा है।

अवचूरिकार—महोपाध्याय **साधुकीर्त्ति** खरतरगच्छीय **श्रीजिनभद्रसूरि** की परम्परा में वाचनाचार्य **श्रीअमरमाणिक्य** के शिष्य थे। आपने सं १६१७ में युगप्रधान **श्रीजिनचन्द्रसूरि** रचित **पौषधविधिप्रकरण**वृत्ति का संशोधन किया था। सं १६२५ में आगरा में सम्राट् **अकबर** की सभा में पौषधविधि विषय में **श्री बुद्धिसागरजी** के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें निरुत्तर किया था। १६३२ में वैशाख सुदि १५ को श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने आपको **उपाध्याय** पद प्रदान किया था। स १६४६ माघ वदि १४ को जालोर में आप का स्वर्गवास हुआ था। आपने अपने जीवनकाल में **सप्तस्मरण बालावबोध** आदि अनेकों ग्रन्थों की रचना की, जिन में २३ छोटे-मोटे ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत अवचूरि की रचना १६१९ माघ सुदि की ५ पचमी[२] को पूर्व हुई हैं। यह अवचूरि होते हुए भी स्पष्टार्थ प्रकाशित होने के कारण टीका का ही **सादृश्य** रखती है।

लक्ष्मीसेन—इनके सम्बन्ध में अन्य कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। केवल इस टीका की प्रशस्ति[३] से ही ज्ञात होता है कि—वे खरतरगच्छीय विमलकीर्तिवाले श्रावक **वीरदास** के पौत्र और धीरवीर

× न ५–६–७, जिनरत्नकोषानुसार. १ देखे युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ. १९२–से उद्धृत.
२. इसी ग्रन्थ के पृ. २३. ३. इसी ग्रन्थ के पृ. ४३–४४, श्लो. २–३–४–५.

श्रीहमीर के पुत्र थे। इन्होंने यह **स्फुटार्था** नाम की टीका रचना सं १५१३ में की है। संघपट्टक जैसे दुसरे काव्य की टीका १६ वर्ष की अवस्था में बनाना उन के पाण्डित्य का द्योतक है।

यह स्फुटार्था नाम की टीका सामान्य सी ही है। टीकाकार कई २ स्थलों पर शाब्दिक पर्यायों का कथन त्याग कर भावार्थ-तात्पर्य मात्र ही प्रकट करने को उत्सुक प्रतीत होती है, अत कई स्थलों का विवेचन अस्पष्टसा रह गया है। साथ ही इनके सन्मुख बृहट्टीका होने के कारण कइ स्थानों में उन्हीं शब्दों का अक्षरसः वाक्यविन्यास कर दिया है।

इस में आश्चर्य की वस्तु यह है कि इस काव्य की केवल २९ पद्य की टीका-प्राप्त नहीं होती है। इस सम्पादन में **पू. उपाध्यायजी**ने तीन प्रतियों का उपयोग किया है, और इस की एक प्रति मेरे संग्रह में भी है, पर किसी में भी इस श्लोक की टीका दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। अतः इस प्रकाशन में स्थानरिक्त न रखकर श्रीहर्षराज गणि की ही २९वें पद्य की टीका के रूप में दी है।

हर्षराज—ये **श्रीजिनभद्रसूरि** के शिष्य **महोपाध्याय श्रीसिद्धान्तरुचि** के प्रशिष्य उ. **श्री अभयसोम** के शिष्य थे। इन के सम्बन्ध में विशेष वृत्तान्त ज्ञात नहीं होता है। इस की प्रशस्ति में रचना-संवत् का उल्लेख भी नहीं है, पर महो० श्री सिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य होने कारण इसकी रचना १६वीं शताब्दि के प्रारभ में ही हुई है।

यह लघुवृत्ति वस्तुत. लघुवृत्ति नहीं है, किन्तु श्रीजिनपति की बृहट्टीका का **संक्षिप्त संस्करण मात्र** ही है। बृहट्टीका में प्रपञ्चित पक्ष विपक्षप्रतिपादन, आगमिक उद्धरण इत्यादि का त्याग कर मूलग्रन्थानुसारिणी समग्र टीका का प्रारम्भ से अन्त तक पंक्ति-पंक्ति अक्षर-अक्षर का उद्धरण कर संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है। उदाहरणार्थ केवल ३८वें पद्य की टीका की कुछ पंक्तियें ही देखिये—

जिनपतिसूरि टीका—"साम्प्रतं प्रकरणकार प्रकरण समाप्नुवन्निष्टदेवतास्तवच्छद्मनाऽवसानमङ्गलं सूचयंश्चक्रबन्धेन स्वनामधेयमाविर्विभावयिषुराह—

'**विभ्राजिष्णु**'। व्याख्या—जिनं वन्दे इति सम्बन्ध.। 'विभ्राजिष्णुं' त्रिभुवनातिशायि चतुस्त्रिंशदति-शयत्वेनात्यन्त शोभमान, 'अगर्वं' उच्छिन्नाऽहङ्कारं 'अस्मरं' मथितमन्मथं 'श्रुतोल्लङ्घने' सिद्धान्ताज्ञाऽतिक्रमे 'अनाशाद' आशां-मनोरथ ददाति-पूरयति आशाद', न आशादो-अनाशादस्तं श्रुताऽऽज्ञाऽतिक्रमकारिण पुंसो नानु-मन्तारमित्यर्थः। 'सज्ज्ञानद्युमणिं' सज्ज्ञानेन-केवलज्ञानेन लोकालोकावभासकत्वाद् भास्वन्तं 'जिन' तीर्थकरं इत्यादि।

अत. यह स्पष्टतया प्रतिपादित हो जाता है कि, यह केवल 'संस्करण' ही है, मौलिक टीका नहीं।

पूज्य उपाध्यायपदालंकृत मुनि-**श्रीसुखसागरजी** म.ने प्रस्तुत उपोद्घात लिखने का जो मुझे अवसर दिया है एतदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

अहमदावाद
लुणसावाडा जैन उपाश्रय
१९-९-५२।

पूज्य श्रीजिनमणिसागरसूरीश्वरान्तेवासि
शा. वि. उपाध्याय **विनयसागर**
'साहित्याचार्य, जैन दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न [संस्कृत, हिन्दी] काव्यतीर्थ।



श्री जिनवल्लभसूरि-रचित संघपट्टक वृत्ति



ताडपत्रीय ग्रंथ 'काष्ठपट्टिका' पर चित्रित श्री जिनवल्लभसूरि मूर्ति (जैसलमेर)

॥ श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीखरतरगच्छालंकार–नवाङ्गीवृत्तिकार–श्रीजिनअभयदेवसूरिशिष्य–कवीन्द्रचूडामणी श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितः।

जिनभद्रसूरिशाखान्तर्गत–साधुकीर्तिगणिनिर्मितावचूरीसमलंकृतः

श्रीसंघपट्टकः

श्रीमत्पार्श्वजिनं नत्वा, सर्वसम्पत्तिदायकम्।
सङ्घपट्टकशास्त्रस्या–ऽक्षरार्थं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

इह हि पुरा दशशताशीतिवर्षे श्रीमदणहिल्लपत्तने दुर्लभराजसभायां चैत्यवासिनो विनिर्जित्य प्राप्तखरतरबिरुदः श्रीजिनेश्वरसूरिः, तत्पट्टे जिनचन्द्रसूरिः, तद्विनेयः श्रीस्तम्भनकपार्श्वप्राकट्यकृद् नवाङ्गीवृत्तिविधाता च श्रीअभयदेवसूरिः, तच्छिष्यः श्रीजिनवल्लभसूरिः शिथिलाचारनिरासाय परोपकारकरणाय च श्रीसङ्घस्य पट्टकरूपं श्रीसंघराज्यपट्टकशास्त्रं चकार, तस्याद्यकाव्यम्—

वह्निज्वालावलीढं कुपथमथनधीर्मातुरस्तोकलोक,–
स्याग्रे संदर्श्य नागं कमठमुनितपः स्पष्टयन् दुष्टमुच्चैः।
यः कारुण्यामृताब्धिर्विधुरमपि किल स्वस्य सद्यःप्रपद्य,
प्राज्ञैः कार्यं कुमार्गस्खलनमिति जगादेव देवं स्तुमस्तम् ॥ १ ॥

व्याख्या—"वह्नि०" तं देवं स्तुमः। तमिति कं? यो भगवान् मातुरग्रे अस्तोकलोकस्य–समस्तलोकस्य अग्रे नागं–सर्पं संदर्श्य–दर्शयित्वा प्राज्ञैः–पण्डितैः 'कुमार्गस्खलनं कार्यम्' इति जगादेव–इति कथयामासेव। कथम्भूतं नागं? वह्निज्वालावलीढम्–अग्निज्वालाव्याप्तम्। कथम्भूतो भगवान्? कुपथस्य–कुमार्गस्य मथने धीः–बुद्धिर्यस्य। पुनर्भगवान् किं कुर्वन्? उच्चैः–अत्यर्थं कमठमुनितपः दुष्टं स्पष्टयन्–प्रकटीकुर्वन्। कथम्भूतो भगवान्? कारुण्यमृताब्धिः–कारुण्यस्यामृतस्य अब्धिः–समुद्रः। किं कृत्वा कुमार्गस्खलनं कार्यं? तत्राह–'किल' इति सत्ये स्वस्य–आत्मनः सद्य–शीघ्रं विधुरमपि–कष्टमपि प्रपद्य–अङ्गीकृत्य। इति प्रथमकाव्यार्थः ॥ १ ॥

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथ,–
प्रत्यर्थीति विनीत इत्यशठ इत्यौचित्यकारीति च ।
दाक्षिण्यीति दमीति नीतिभृदिति स्थैर्यीति धैर्यीति सद्,–
धर्मार्थीति विवेकवानिति सुधीरित्युच्यसे त्वं मया ॥ २ ॥

व्याख्या–कल्या० ॥ कल्याणः–शुभः, अभिनिवेशः–मनःपरिणामो यस्येति कल्याणाभिनिवेशवान् इति । गुणग्राहीति । मिथ्यापथस्य–कुमार्गस्य प्रत्यर्थी–वैरी, इति । विनीत इति । अशठः–सरल(इति) औचित्यकारीति–योग्यताकारीति । च–पुनः दाक्षिण्यीति । दमी–जितेन्द्रिय इति । नीतिभृत्–न्यायमार्गधारक इति । स्थैर्यी–स्थिरत्ववान् इति । धैर्यी–धीरत्ववानिति । सद्धर्मस्यार्थीति । विवेकवानिति । सुधीः–सुबुद्धिरिति । हे शिष्य ! एवंगुणविशिष्टस्त्वम्, अत एव मयोच्यसे त्वमिति, त्वां प्रत्यहं वच्मीति काव्यार्थः ॥ २ ॥

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल–स्थितिजुषि गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे ।
प्रसरदनवबोधप्रस्फुरत्कापथौघ,–स्थगितसुगतिमार्गे सम्प्रति प्राणिवर्गे ॥ ३ ॥

प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहसखदशमाश्चर्यसाम्राज्यपुण्य,–
न्मिथ्यात्वध्वान्तरुद्धे जगति विरलतां यति जैनेन्द्रमार्गे ।
मद्भ्रिष्टद्विष्टमूढप्रखलजडजनाम्नायरक्तैर्जिनोक्ति,–
प्रत्यर्थी साधुवेषैर्विषयिभिरभितः सोऽयमप्राथि पन्थाः ॥ ४ ॥

व्याख्या–इह० ॥ प्रो० ॥ विषयिभिः–विषयसेवकैः साधुवेषैः–लिङ्गधारिभिर्हीनाचारैः चैत्यदासिभिः अभितः–समन्तात् सोऽयं पन्था–मार्गः अप्राथि–विस्तारितः। क सति ? सम्प्रति इह–दुष्षमाकाले किलेति सत्ये प्राणिवर्गे एवंविधे सति । कथम्भूते प्राणिवर्गे ? कलिकाल एव–दुष्षमाकाल एव व्यालः–सर्पस्तस्य वक्त्रान्तरालं–मुखान्तरालं, तत्र स्थितिः–स्थानं तां जुषते–सेवते यः सः । पुनः कथम्भूते ? गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे–गतौ तत्त्वप्रीतिः, नीतिप्रचारश्च न्यायप्रचारस्तौ यस्य सः । पुनः कथम्भूते ? प्रसरत्–प्रसरणशीलो योऽनवबोधः–अज्ञानं तेन प्रस्फुरत्कापथौघः–कुमार्गसमूहस्तेन स्थगितः–आच्छादितः सुगतिमार्गः–देवगत्यादिसम्बन्धो यस्य सः ॥३॥ पुनः क सति ? जगति जैनेन्द्रमार्गे विरलतां याति सति । कथम्भूते जैनेन्द्रमार्गे ? "प्रोत्सर्प" प्रोत्सर्पन्–उल्लसन् यः भस्मराशिग्रहस्तस्य सखा–मित्रं यद्दशमाश्चर्यम्–असंयतिपूजालक्षणं तस्य साम्राज्यं तेन पुष्यन्–प्रवर्द्धन् मिथ्यात्वमेव ध्वान्तं–तमस्तेन

रुद्धे । कथम्भूतैः साधुवेषैः ?, सङ्क्लिष्टो–रौद्राध्यवसायवान् द्विष्टो–मत्सरी मूढः–मूर्खः प्रखलः–दुर्जनः जडः–दुर्मेधा एवम्भूतो यो जनस्तस्य सङ्घस्तस्य आम्नायः–परम्परा तत्र रक्तैः । कथम्भूतः पन्था ? जिनोक्तेः–भगवद्वचनस्य प्रत्यर्थीति काव्यार्थः ॥ ४ ॥

अथ द्वारमाह—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,
स्वीकारोऽर्थगृहस्थयचैत्यसदनेष्वप्रेक्षिताद्यासनम् ।
सावद्याचरितादरः श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिद्वेषधीः,–
धर्मः कर्महरोऽत्र चेत्पथि भवेन्मेरुस्तदाऽब्धौ तरेत् ॥ ५ ॥

व्याख्या–यत्रौ० ॥ यत्र मार्गे औद्देशिकस्य–आधाकर्मणो भोजनम् ॥ १ ॥ जिन गृहे वासः–वसनम् ॥ २ ॥ वसत्यक्षमा–वसतिम्–उपाश्रयं प्रति अक्षमा–मात्सर्यम् ॥ ३ ॥ अर्थः ॥ ४ ॥ गृहस्थः ॥ ५ ॥ चैत्यसदनेषु–चैत्यगृहेषु स्वीकारः ॥ ६ ॥ अप्रेक्षितादि–अप्रमार्जितादि आसनम् ॥ ७ ॥ सावद्याचरणायामादरः ॥ ८ ॥ श्रुतपथस्य–सिद्धान्तमार्गस्य अवज्ञा–हीला ॥ ९ ॥ गुणिषु द्वेषधीः ॥ १० ॥ अत्र पथे–दशद्वारसंयुक्ते चेद्–यदि धर्मः कर्महरः स्यात्तदा मेरुपर्वते 'अब्धौ तरेत्' इति निषेधवाक्यं, कदापि न भवति ॥ ५ ॥

औद्देशिकभोजनद्वारं व्याख्यानयति—

षट्कायानुपमर्द्य निर्दयमृषीनाधाय यत्साधितं,
शास्त्रेषु प्रतिषिध्यते यदसकृन्निस्त्रिंशताऽऽधायि यत् ।
गोमांसाद्युपमं यदाहुरथ यद् भुक्त्वा यतिर्यात्यधः,
तत्को नाम जिघत्सतीह सघृणः सङ्घादिभक्तं विदन् ॥ ६ ॥

व्याख्या–षट्० ॥ षट्कायान्–पृथिव्यादीन् निर्दयम् उपमर्द्य–आरभ्य यद् आधाकर्म ऋषीन्–साधून् आधाय–मनस्यवधार्य साधितं–निष्पादितं यत् शास्त्रेषु असकृत्–वारंवारं प्रतिषिध्यते, यत्पुनर्निस्त्रिं(स्त्रिं)शताधायि–निस्त्रिंशतायाः–निःशूकत्वस्य आधायि–कारकं यद् गोमांसाद्युपमं–गोमांसादितुल्यमाहुस्तीर्थकराः, अथ यद्–अशनं भुक्त्वा यतिः अधः–नरके याति । एवं दूषणस्थानमाधाकर्म तत् सङ्घादिनिमित्तमशनं तदिति कोमलामन्त्रणे इह–जगति कः सघृणः–सदयो जिघित्सति–भोक्तुमिच्छति ? किं कुर्वन् ? विदन्–जानन्, एतावता ज्ञात्वा न कोऽपि भोक्तुमिच्छतीति ॥ ६ ॥

द्वितीयद्वारमाह—

गायद्गन्धर्वनृत्यत्पणरमणिरणद्वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग,-
प्रेङ्खत्पुष्पस्रगुद्यन्मृगमदलसदुल्लोचचञ्चज्जनौघे ।
देवद्रव्योपभोगध्रुवमठपतिताऽऽशातनाभ्यस्त्रसन्तः,
सन्तः सद्भक्तियोग्ये न खलु जिनगृहेऽर्हन्मतज्ञा वसन्ति ॥ ७ ॥

व्याख्या-गाय० ॥ जिनगृहे अर्हत्चैत्ये अर्हन्मतज्ञा-अर्हन्मतज्ञातारः सन्तः खलु-निश्चितं न वसन्ति । कथम्भूते चैत्ये ? गायद्गन्धर्वाः गायन्तो गन्धर्वा यत्र, नृत्यन्ती पणरमणी-वेश्या यत्र, रणद्वेणुः-रणन्त-शब्दं कुर्वन्तो वेणवो-वंशा यत्र, गुञ्जन्तो मृदङ्गाः-मृदला यत्र तद् गुञ्जन्मृदङ्गं, प्रेङ्खत्पुष्पस्रक्-प्रेङ्खन्त्यो-लहलहायमानाः पुष्पस्रजः-पुष्पमाला यत्र, उद्यत्-समुच्छलद्गन्धो-मृगमदः-कस्तूरिका यत्र, लसन्तः दीप्यमानाः उल्लोचाः-चन्द्रोदया यत्र, चञ्चज्जनौघः-चञ्चन्तः-महाघनवस्त्रादिभूषणभूषिता जनौघाः-श्रावकसङ्घा यत्र स सर्वपदैकयसमासः । चैत्ये एतत्सर्वं भवति । किम्भूताः सन्तः ? देव० देवद्रव्यस्योपभोगं ध्रुवं-निश्चितं या मठपतिता आशातना च ताम्बूलभक्षणशयनासनादिरूपा, ताभ्यः त्रसन्तः । कथम्भूते चैत्ये ? सद्भक्तियोग्ये, एतावता चैत्यभक्तिः कार्या, तत्र वासो न कार्यः ॥ ७ ॥

तृतीयद्वारमाह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निषेवितोक्तां, निस्सङ्गताऽग्रिमपदं मुनिपुङ्गवानाम् ।
शय्यातरोक्तिमनगारपदं च जानन्, विद्वेष्टि कः परगृहे वसतिं सकर्णः ॥ ८ ॥

व्याख्या—साक्षा० ॥ कः सकर्णः-विद्वान् परगृहे-श्रावकोपाश्रये वसतिं-स्थानं विद्वेष्टि-तत्र द्वेषं धत्ते अपितु न कोऽपि । कथम्भूतां वसतिं ? साक्षाज्जिनैः-तीर्थकरैः, गणधरैश्च-गौतमादिभिः निषेवितोक्तां-निषेविता-सेविता उक्ता च भव्येभ्यः । पुनः किम्भूतां वसतिं ? मुनिपुङ्गवानां-मुनिप्रवराणां निस्सङ्गताग्रिमपदं-निस्सङ्गताया अग्रिमं-प्रधानं पदं-स्थानं परगृहे वसतां साधूनां सङ्गोऽपि न स्यात् । सकर्णः किं कुर्वन् । शय्यातरोक्तिं शय्यया-वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरस्तस्य उक्तिः-कथनं, च पुनः-अनगारपदं, न विद्यते अगारं-गृहं यस्य सः अनगारस्तस्य पदं जानन्, एतावता मनगारस्य श्राद्धगृहे वसनमेव श्रेयः ॥ ८ ॥

पुनरपि तदुद्धारमेवाह—

चित्रोत्सर्गापवादे यदिह शिवपुरीदूतभूते निशीथे,
प्रागुक्ता भूरिभेदा गृहिगृहवसतीः कारणेऽपोह्य पश्चात् ।
स्त्रीसंसक्त्यदियुक्तेऽप्यभिहितयतनाकारिणं संयतानां,
सर्वत्रागारिधाम्नि न्ययमि न तु मतः क्वापि चैत्ये निवासः ॥ ९ ॥

व्याख्या-चित्रो० ॥ यत्-यस्मात्, इह-प्रवचने निशीथे-निशीथग्रन्थे निशीथनाम्नि छेदग्रन्थे सर्वत्र अगारधाम्नि-श्राद्धगृहे संयतानां-साधूनां निवासो न्ययमि-नियमेन प्रतिपादितः । कथम्भूते निशीथे ? चित्रोत्सर्गापवादे-चित्रौ-नाना-प्रकारौ उत्सर्गापवादौ नयौ यत्र तत्, तत्र नयद्वयस्य विस्तरव्याख्याऽस्तीति । पुनः किम्भूते ? शिवपुरीदूतभूते-शिवपुर्याः-मोक्षनगर्या दूतभूते तत्र ग्रन्थे प्राक्-प्रथमं भूरिभेदाः-अनेकप्रकाराः गृहिगृहवसतीः-गृहिण्णं गृहमेव वसतयः-उपाश्रयास्ता उक्त्वा पश्चात्कारणे सति अपोह्य-अपवादविषयीकृत्य पूर्वमुत्सर्गेण '**स्त्रीसंसक्त्यादियुक्ते उपाश्रये न वस्तव्यं साधुना**' इत्युक्तं पश्चादपवादमार्गेण तत्र वसनीयमित्यपि प्रोक्तम् । कथम्भूते अगारधाम्नि ? स्त्रीसंसक्त्यादियुक्तेऽपि-स्त्रीपशुपण्डकानां संसर्गादि-युक्तेऽपि वसनीयम् । कथम्भूतानां संयतानाम् ? अभिहित-यतनाकारिणाम्-अभि-हिता-प्रोक्ता या यतना-परिच्छदादानरूपा तत्कारिणाम् । एवमुत्सर्गेण अपवादेनापि गृहस्थगृह एव वसनीयं न पुनः क्वापि चैत्ये निवासोऽनुमतः ॥ ९ ॥

प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं ननु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः,
सर्वारम्भिपरिग्रहं त्वतिमहासावद्यमाचख्यते ।
चैत्यस्वीकरणे तु गर्हिततमं स्यान्माठपत्यं यते,—
रित्येवं व्रतवैरिणीति ममता युक्ता न मुक्त्यर्थिनाम् ॥ १० ॥

व्याख्या-प्रव्र० ॥ ननु-निश्चितं जिनाः-तीर्थकराः धनस्वीकारम्-अर्थाङ्गीकारं प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं-दीक्षाविरोधिनम् आहुः-कथयन्ति तु-पुनः सर्वारम्भिपरिग्रहं, सर्वारम्भिणां-गृहस्थानां परिग्रहं-स्वीकारं ममैते गृहस्था इति, अतिमहासावद्यम्-अत्यन्तं महापापम् आचक्षते वदन्ति । तु-पुनः यतेः-साधोः चैत्यस्वीकरणे-चैत्यममत्वे गर्हिततमम्-अत्यन्तगर्हणीयं माठपत्यं-मठपतित्वं स्यात् । इत्येवंप्रकारेण मुक्त्यर्थिनां-

मुक्तेः प्रार्थकानां साधूनां ममता न युक्ता, कथम्भूता ममता ? व्रतवैरिणी, इति-अर्थ-गृहस्थचैत्यस्वीकारः। इति द्वारत्रयं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा, नृपतिककुदमेतल्लोकहासश्च भिक्षोः।
स्फुटतर इह सङ्गः सातशीलत्वमुच्चै-रिति न खलु मुमुक्षोः संगतं गद्दिकाऽऽदि ॥ ११ ॥

व्याख्या—भवति० ॥ अत्र-गद्दिकाद्यासने नियतं-निश्चितम् असंयमो भवति गद्दिकादीनां प्रतिलेखयितुमशक्यत्वात्। विभूषा-शोभा स्यात् महापुरुषसेवनीयत्वात्। एतद्-आसनसेवनं नृपतिककुदं-राजचिह्नं च पुनः भिक्षोः-साधोः लोकहासः स्यात्-'अहो! मुण्डितोऽप्येवंविधासनेषु उपविशति' इह गद्दिआसने संगपरिग्रहः स्फुटतरः-प्रकटतरः उच्चैः-अत्यर्थं सातशीलत्वं-सुखलम्पटत्वम्। इति हेतोः खलु-निश्चितं मुमुक्षोः-साधोः गद्दिकादि, आदिशब्दात् मसूरकासिंहासनादेः परिग्रहः, तत् न संगतं- न युक्तम्। अप्रेक्षिताद्यासनद्वारं व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

सावद्याचरितद्वारमाह—

गृही नियतगच्छभाग् जिनगृहेऽधिकारो यतेः, प्रदेयमशनादि साधुषु यथा तथाऽऽरम्भिभिः।
व्रतादिविधिवारणां सुविहितान्तिकेऽगारिणां, गतानुगतिकैरदः कथमसंस्तुतं प्रस्तुतं ॥ १२ ॥

व्याख्या—गृही० ॥ गृही-श्रावकः नियतगच्छभाक्, नियतं-निश्चितं स्वगच्छमेव भजतीति नियतगच्छभाक्, स्वगच्छं मुक्त्वाऽन्यत्र न गन्तव्यम्, यतेः-साधोः-जिनगृहे-चैत्येऽधिकारः-तच्चिन्ताकरणं 'प्रदेयमशनादी' त्यादि, आरम्भिभिः-गृहस्थैः साधुषु अशनादि-अशनपानखादिमस्वादिमादि यथातथा-येन तेनापि प्रकारेण प्रदेयं तत्राशुद्धदानेऽपि दोषो न अगारिणां-गृहस्थानां सुविहितान्तिके-साधुसमीपे व्रतादि-विधिवारणं साधुसमीपे शीलव्रतादि नाङ्गीकरणीयं गतानुगतिकैः-एडकावत्प्रवाहपतितैः चैत्यवासिभिः अदः-पूर्वोक्तम् असंस्तुतम्-अयुक्तं कथं-केन प्रकारेण प्रस्तुतं-प्रारब्धम् ॥ १२ ॥

श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

निर्वाहार्थिनमुज्झितं गुणलवैरज्ञातशीलान्वयं,
तादृग् वशजतद्गुणेन गुरुणा स्वार्थाय मुण्डीकृतम्।
यद्विख्यातगुणान्वया अपि जना लग्नोग्रगच्छमहा,-
देवेभ्योऽधिकमर्चयन्ति महतो मोहस्य तज्जृम्भितम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—निर्वाहा० ॥ यत्—यस्मात्कारणात् एवंविधा जना एवंविधं गुरुं देवेभ्योऽधिकमर्चयन्ति तत् महतः—प्रबलस्य मोहस्य—मोहनीयकर्मणो जृम्भितं—महात्म्यम् । कथम्भूतं गुरुं ? निर्वाहार्थिनं—निर्वाहस्य—उदरभरणस्यार्थिनम् । पुनः किम्भूतम् ? गुणलवैः—गुणलेशैः उज्झितं—त्यक्तम् । पुनः किम्भूतम् ? अज्ञातशीलान्वयम्—अज्ञातं शीलम्—आचारः अन्वयश्च—कुलं यस्य स (तम् ।) पुनः किम्भूतम् ? तादृग्वंशजतद्गुणेन गुरुणा शिष्यतुल्याज्ञातादिवंशेन तद्गुणेन—शिष्यतुल्यगुणेन एवंविधेन गुरुणा स्वार्थाय—स्वोदरभरणाय मुण्डीकृतं तादृशतादृशमेवं मुण्डयते । कथम्भूता जनाः विख्यातगुणान्वया अपि विख्याताः—प्रसिद्धाः गुणान्वयो वंशो येषां ते सगुणाः—सुकुलोत्पन्ना अपि । पुनः किम्भूताः ? लग्नोग्रगच्छग्रहाः, लग्न उग्रः—उत्कटो गच्छग्रहो येषां ते ॥ १३ ॥

पुनरप्येतदुद्वारमाह—

दुष्प्रापा गुरुकर्मसञ्चयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां,
जातायामपि दुर्लभः शुभगुरुः प्राप्तः स पुण्येन चेत् ।
कर्त्तुं न स्वहितं तथाऽप्यलममी गच्छस्थितिव्याहताः,
कं ब्रूमः कमिहाश्रयेमहि कमाराध्येम किं कुर्महे ॥ १४ ॥

व्याख्या—दुष्प्रापा० ॥ गुरुकर्मसंचयवतां—गुरुकर्मसमूहवतां नृणां सद्धर्मबुद्धिः—प्रधानधर्मबुद्धिः दुष्प्रापा गुरुकर्मत्वात् सद्धर्मबुद्धिर्न कदाचित् सद्धर्मबुद्धौ जातायामपि पुनरपि शुभगुरुः दुर्लभः—दुष्प्रापः चेद्—यदि स गुरुः पुण्येन प्राप्तः, तथापि—एवं सामग्रीयोगेऽपि अमी श्राद्धाः स्वहितं कर्त्तुं नालं—न समर्थाः । कथम्भूता जनाः ? गच्छस्थितिव्याहताः—गच्छस्थित्या—गच्छमर्यादया व्याहताः—वशीकृताः । एवं स्थिते कं पुरुषं ब्रूमः, कं पुरुषम् इह—जगति आश्रयेमहि—शरणं प्रपद्येमहि, कं पुरुषम् आराध्येमहि—आराध्यामः किं कुर्महे ॥ १४ ॥

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित्,
कृत्वा कञ्चन पक्षमक्षितकलिः प्राप्तस्तदाचार्यकम् ।
चित्रं चैत्यगृहे गृही यति निजे गच्छे कुटुम्बीयति,
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान् विश्वं वराकीयति ॥ १५ ॥

व्याख्या—क्षुत्क्षाम० ॥ किलेति संभावनायां कोऽपि क्षुत्क्षामः—क्षुधया क्षामः—क्षीणः क्षुत्क्षामः एवम्भूतो रङ्कशिशुकः—रङ्कस्यबालः स वैराग्याभावेऽपि क्वचित्

जिनगृहे चैत्ये प्रव्रज्य–दीक्षां गृहीत्वा ततः कञ्चन पुरुषं पक्षं–स्ववशं कृत्वा क्रमेण तद् आचार्यकम्–आचार्यत्वं प्राप्तः। कथम्भूतः सः ? अक्षितकलिः–अक्षितः–अनिष्टः कलिः–कलहो यस्य स कलहयुक्तः। एतत् चित्रम्–आश्चर्यं स आचार्यपदवीप्राप्तो निर्गुणोऽपि चैत्यगृहे गृहीयति–'ममेदं चैत्य'–मिति गृहस्थवदाचरति। निजे गच्छे कुटुम्बीयति–कुटुम्बिपुरुषवदाचरति। स्वम्–आत्मानं शक्रीयति–शक्रवत्–इन्द्रवदाचरति। बुधान्–पण्डितान् बालिशीयति–मूर्खीयति। विश्वं–जगत्, वराकीयति–वराकवदाचरति चैत्यवासिषु एतत् साक्षाद् दृश्यते ॥ १५ ॥

पुनरपि श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च,
प्रागृदृष्टो न च बान्धवो न च न च प्रेयान्न च प्रीणितः।
तैरेवात्यधमाधमैः कृतमुनिव्याजैर्बलाद् वाह्यते,
न स्योतःपशुवज्जनोऽयमनिशं नीराजकं हा! जगत् ॥ १६ ॥

व्याख्या—यैर्जातो० ॥ यैः–शिथिलाचारिगुरुभिः अयं जनः–श्राद्धलोकः पितृरूपेण तेन न जनितः–जन्म प्रापितः, च पुनः वर्द्धितः–वृद्धिं नीतः, न क्रीतः–मूल्येन गृहीतः, न च येषां गुरूणाम् अधमर्णः–अर्थदाता, न च ग्राहकस्तु उत्तमर्णः, प्राक् प्रथमं दृष्टः–विलोकितः, न च तेषां बान्धवः–भ्राता, न च प्रेयान्–वल्लभः, न च यैर्गुरुभिः प्रीणितः–अर्थादिप्रदानेन सन्तोषितः, न च तैरेव गुरुभिः अनिशं–निरन्तरम् अयं जनः बलात्–हठात् नस्योतः पशुवत्–नस्तित वृषभवत् वाह्यते–इतस्ततो भ्राम्यते। कथम्भूतैस्तैः ? अत्यधमाधमैः–अति अत्यर्थम् अधमेभ्योऽधमाः। पुनः कथम्भूतैः ? कृत–मुनिव्याजैः–विहितमुनिकपटैः, अत एव 'हा!' इति खेदे जगत् नीराजकम्–अधिपतिवियुक्तं, यस्याग्रे पूत्क्रियते स राजा नास्तीति ॥ १६ ॥

किं दिङ्मोहमिताः किमन्ध–बधिराः किं योगचूर्णीकृताः,
किं दैवोपहताः किमङ्ग! ठकिताः किं वा ग्रहावेशिताः।
कृत्वा मूर्द्धिपदं श्रुतस्य यदमी दृष्टोरुदोषा अपि,
व्यावृत्तिं कुपथाज्जडा न दधतेऽसूयन्ति चैतत्कृते ॥ १७ ॥

व्याख्या—किं दिङ्मोहा० ॥ अमी जडाः–मूर्खाः किं दिङ्मोहं–दिशाभ्रमम् इताः–प्राप्ताः ?। किम् अन्धबधिराः–अन्धाश्च बधिराश्च, श्रवणविकलः पादविप्रलेपादि-

योगः, अञ्जनादि चूर्णं, योगचूर्णकृताः—मस्तकादिषु योगचूर्णप्रक्षेपेण वशीकृताः ?, किं दैवोपहताः—दैवेन—प्रतिकूलदैवेन किमुपहताः ?, किमङ्ग ठकिताः—'अङ्गे'ति कोमलामन्त्रणे किं ठकिताः—धूर्त्तेण च वञ्चिताः ? । किं वा ग्रहावेशिताः ?, ग्रहैः—व्यन्तरादिभिः आवेशिताः—अधिष्ठिताः ? । एते तत्त्वं न जानन्तीति दृष्टान्तः । यतः—यस्मात् अमी जडाः कुपथात्—कुमार्गाद् व्यावृत्तिं—निवृत्तिं न दधते—न कुर्वन्ति । किं कृत्वा ? श्रुतस्य—सिद्धान्तस्य मूर्ध्नि—मस्तके पदं—पादं कृत्वा—सिद्धान्तोक्तमविगणय्येत्यर्थः । कथम्भूता जडाः ? दृष्टोरुदोषा अपि, दृष्टा उरवः—गरिष्ठा दोषा यैस्ते, प्रत्यक्षतो दोषान् पश्यमानाः कुमार्गनिवृत्तिं न कुर्वन्ति अत एव दिङ्मोहादिविशेषणम् । च—पुनः एतत्कृते—कुपथव्यावृत्तिकृते पुरुषा ये असूयन्ति—ईर्ष्यां कुर्वन्ति, स्वयं कुपथव्यावृत्तिं न कुर्वन्ति, ये कुर्वन्ति तेभ्यो जडा असूयन्तीति विशेषणसफलता ॥ १७ ॥

श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

इष्टावाप्तितुष्टनटविटभटचेटकपेटकाकुलं,
निधुवनविधिनिबद्धदोहदनरनारीनिकरसङ्कुलम् ।
रागद्वेषमत्सरेर्ष्यो घनमघपङ्के निमज्जनं,
जनयत्येव मूढजनविहितमविधिना जैनमज्जनम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—इष्टावाप्ति० ॥ अविधिना—अविधिप्रकारेण रात्रौ इत्यर्थः, मूढजनविहितं—मूर्खलोककृतं जैनमज्जनं—तीर्थकरस्नात्रम् अघपङ्के निमज्जनं—पापपङ्के ब्रुडनं जनयत्येव—करोत्येव । एवकारो निश्चयार्थे । किम्भूतं रात्रिस्नानम् ? इष्टावाप्तितुष्टविटनटभटचेटकपेटकाकुलम्—इष्टा—वल्लभा स्त्री रात्रावागता तस्या अवाप्तिः—प्राप्तिस्तया तुष्टाः—सन्तुष्टा ये विटाः—वेश्यापतयः, नटाः—नाटकिनः, भटाः—सुभटाः, चेटकाः—दासास्तेषां पेटकं—समुदायस्तेन आकुलम्, रात्रौ प्रायस्ते समागच्छन्ति । पुनः किम्भूतं ? निधुवनविधि निधुवनं—मैथुनं तस्य विधिः—विलसितं, तत्र निबद्ध—कृतो दोहदः—अभिलाषो येन तत् । एवंविधं नरनारीनिकरं—मनुष्यस्त्रीवृन्दं तेन सङ्कुलं—व्याप्तम् । पुनः किम्भूतं ? रागद्वेषमत्सरेर्ष्याघनं, रागः—स्नेहः,—द्वेषः—क्रोधः, मत्सरः—क्रोधविशेषः, परगुणाऽसहिष्णुता—ईर्ष्या—स्ववल्लभां परेण जल्पन्तीं दृष्ट्वा क्रोधकरणं, तैर्घनं—निविडं बहुरुयादिविटादिसंमर्दाद् रात्रौ निषिद्धं भगवत्स्नात्रं बहुसमञ्जसप्रवृत्तित्वाच्च ॥ १८ ॥

जिनमतविमुखविहितमहिताय न मज्जनमेव केवलं,
किन्तु तपश्चरित्र–दानाद्यपि जनयति न खलु शिवफलम् ।
अविधि–विधिक्रमाज्जिनाज्ञापि ह्यशुभ–शुभाय जायते,
किं पुनरिति विडम्बनैवाहितहेतुर्न प्रतायते ॥ १९ ॥

व्याख्या–जिन० ॥ मज्जनमेव–स्नात्रमेव जिनमतविमुखविहितं–जिनमतात्–भगवन्मतात् विमुखं–विपरीतम् अविधितया विहितं–कृतं केवलं–निकेवलम् अहिताय न किन्तु तपश्चरित्रदानाद्यपि–तपः–अनशनादि, चारित्रं–देशसर्वविरतिरूपं, दानम्–अभयादिरूपम्, आदिशब्दाद् विनयवैयावृत्त्यादिग्रहणं, तदपि अविधिकृतं खलु–निश्चितं शिवफलं–मुक्तिफलं न जनयति, हि–निश्चितं जिनाज्ञाऽपि–भगवदाज्ञापि अविधिविधिक्रमात्–अविधिश्च विधिश्च तयोः क्रमात् अशुभशुभाय जायते–भवति, अविधिना अशुभाय, विधिना शुभाय किं पुनरिति विडम्बनैवाहितहेतुर्न प्रतायते, इत्यमुना प्रकारेणाऽविधिक्रियाविडम्बना एवाहितहेतुरहितस्य संसारस्य हेतुः कारणं किं पुनः न प्रतायते न विस्तार्यते अपितु विस्तार्यत एव एतावता अविधिक्रिया विडंबना एव अहितहेतुश्च कथ्यत एव ॥ १९ ॥

जिनगृह–जिनबिम्ब–जिनपूजन–जिनयात्रादि विधिकृतं,
दानतपोव्रतादिगुरुभक्तिश्रुतपठनादि चादृतम् ।
स्यादिह कुमतकुगुरुकुग्राहकुबोधदेशनांशतः,
स्फुटमनभिमतकारित वरभोजनमिव विषलवनिवेशतः ॥ २० ॥

व्याख्या–जिन० ॥ जिनगृहं–जिनभवनं, जिनबिम्बं–भगवत्प्रतिमा, जिनपूजनं–भगवत्पूजा, जिनयात्रा–अष्टाह्निकादिमहोत्सवः, आदिशब्दाज्जिनप्रतिष्ठादिग्रहः, एवं धर्मकृत्यं विधिकृतं–शास्त्रोक्तप्रकारेण विहितं दानम्–अभयदानादि, तपः–द्वादशप्रकारं, व्रतानि–स्थूलप्राणातिपातविरमणानि, आदिशब्दात् अभिग्रहादिः, गुरुभक्तिः–धर्माचार्यभक्तिः, श्रुतपठनं–सिद्धान्तपठनम्, आदिशब्दात् सिद्धान्तार्थश्रवणादिग्रहणं, च पुनः आदृतम्–आदरेण कृतम्, एसत्सर्वम् इह–प्रवचने कुमत–कुगुरु–कुग्राह-कुबोध-कुदेशनांशतः–कुमतं–परतीर्थिकमतं, कुगुरुः–सिद्धान्तार्थमोटकः, कुग्राहः–कदाग्रहः, कुबोधः–कुत्सितज्ञानं, कुदेशना–कुधर्मकथा तासाम् अंशः–लेशस्तस्मात्, स्फुटं–प्रकटम्, अनभिमतकारि–अनिष्टकारि संसारकारणं स्यात् । दृष्टान्तमाह–विषलवनिवेशतो वर-

भोजनमिव, यथा विषलवप्रवेशेण वरभोजनं-प्रधानं भोजनमपि अनिष्टकारि तथा विधिधर्मकृत्यमपि कुमतिकुगुर्वादिदेशनामिश्रितं संसारकारणमिति ॥ २० ॥

आकृष्टुं मुग्ध-मीनान् बडिशपिशितवद्बिम्बमादर्श्य जैनं,
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवर-कमठान् स्वेष्टसिद्ध्यै विधाप्य ।
यात्रा-स्नात्राद्युपायैर्नमस्तिक-निशाजागरादिच्छलैश्च,
श्रद्धालुर्नाम जैनैश्चलित इव शठैर्वञ्च्यते हा ! जनोऽयम् ॥ २१ ॥

व्याख्या-आकृष्टुं० ॥ नाम जैनैः-नाममात्रेण जैना नामजैनास्तैः-लिङ्गधारिभिः 'हा' इति खेदे अयं श्रद्धालुर्जनः-श्रावकजनो वञ्च्यते-पराभूस्यते । कथम्भूतैर्नामजैनैः ? शठैः-धूर्त्तैः । कथम्भूतः श्रद्धालुः ? छलित इव-व्यन्तराधिष्ठित इव ग्रथिल इव । छलनप्रकारमाह-मुग्धमीनान्-मूर्खमत्स्यान् आकृष्टुं-आकर्षितुं बडिशपिशितवत्-बडिशं-मत्स्यग्रहणाय लोहकण्टकं, तत्रपिशितं-मांसबोटकं तद्वत् जैनं बिम्बं-जिनप्रतिमां आदर्श्य-दर्शयित्वा, यथा, मांसखण्डेन मत्स्या वशीक्रियन्ते तथा मुग्धप्रतारणाय तैरपि जैनबिम्बं दर्शितम् । ननु जिनबिम्बस्य कथं बडिशपिशितोपमा ? उच्यते-अविधिप्ररूपितस्य हीनाचारिप्रतिष्ठितस्य युक्तैव न तु विधिप्रतिष्ठितस्य । पुनः किं कृत्वा ? तन्नाम्ना-जिननाम्ना रम्यरूपान्-मनोहरस्वरूपान् अपवरकमठान्, अपवरकाः-अन्तर्निलया मठाः-स्थानविशेषास्तान् विधाप्य-काराप्य, कस्यै ? स्वेष्टसिद्ध्यै-स्वस्येष्टसाधनाय, 'अस्माकमिष्टं भविष्यता'-मिति मिषेण भगवद्भाण्डागारमठादिनिर्मापणं कारयन्ति । ते पुनः कैः श्राद्धान् छलन्ति ? यात्रास्नात्राद्युपायैः, यात्रा-पूर्वजाद्युद्देशेन जिनगृहे यात्रा स्नात्रं च कर्त्तव्यम्, आदिशब्दात् श्रुतानुक्तपर्वग्रहः, एवंप्रकार उपायः-मिषः, तैः । पुनः नमसितकनिशाजागरादिच्छलैश्च, नमसितकजिनादीन् उद्दिश्य द्रव्ये सितत्वकरणम् उपद्रवनिवृत्तये इयद् द्रव्यं व्ययामीति नियमाकरणं निशाजागरो-रात्रिजागरणम् आदिशब्दात् शान्तिकपौष्टिकादिग्रहः, एतच्छलैश्च-एतत्प्रकारं दर्शयित्वा जनान् वञ्चयन्ति । अनेन काव्येन अविधिजिनबिम्बयात्रास्नात्रनमसितकनिशाजागरणं निषिद्धं, विधिना तु सर्वं कर्त्तव्यं, तत्कर्त्तव्यस्य सप्तमकाव्ये विंशतितमकाव्ये पूर्वोक्ते स्थापितत्वादिति ॥ २१ ॥

सर्वत्रास्थगितास्रवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः,
वल्गद्गौरवचण्डदण्डतुरगाः पुष्यत्कषायोरगाः ।

सर्वाकृत्यकृतोऽपि कष्टमधुनान्त्याश्चर्यराजाश्रिताः,
स्थित्वा सन्मुनिमूर्द्धसूद्धतधियस्तुष्यन्ति पुष्यन्ति च ॥ २२ ॥

व्याख्या–सर्व० ॥ अहो ! कष्टं एवंविधा हीनाचारिणोऽधुना सन्मुनिमूर्धसु–सत्साधुमस्तकेषु स्थित्वा तुष्यन्ति–तोषं प्राप्नुवन्ति, च पुनः पुष्यन्ति–वर्द्धन्ते । कथम्भूताः (हीनाचारिणः) ? सर्वत्र अस्थगितास्रवाः–अनाच्छादितास्रवाः । पुनः किम्भूताः ? स्वविषयेषु–आत्मात्मविषयेषु व्यासक्तानि–व्यापारितानि सर्वेन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि यैस्तैः । पुनः किम्भूताः ? वलगन्तः–उच्छलन्तः गौरवैः शातादिभिः चण्डा–रौद्रा दण्डा–मनोदण्डादिकास्तुरगा येषां ते दण्डानां चपलत्वात्तुरगोपमानम् । पुनः कथम्भूताः ? पुष्यत्कषायोरगाः, पुष्यन्तः–प्रवर्धमानाः कषायोरगाः–कषायसर्पा येषां ते । पुनः किम्भूताः ? सर्वाकृत्यकृत्योऽपि–सर्वाकार्यकारका अपि । पुनः किम्भूताः ? अन्त्याश्चर्य राजाश्रिताः, अन्त्यमाश्चर्यम्–असंयतपूजालक्षणं तदेव राजा तदाश्रिताः । पुनः किम्भूताः ? उद्धतधियः–उत्कटबुद्धयः ॥ २२ ॥

सर्वारम्भपरिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकाशनाद्येकदा,
प्रत्याख्याय न रक्षितो हृदि भवेत्तीव्रोऽनुतापस्तदा ।
षट्कृत्वस्त्रिविधं त्रिधेत्यनुदिनं प्रोच्यापि भञ्जन्ति ये,
तेषां तु क तपः क सत्यवचनं क ज्ञानिता क व्रतम् ? ॥ २३ ॥

व्याख्या–सर्वा० ॥ सर्वारम्भपरिग्रहस्य–सकलसावद्यव्यापारधनधान्यादिसङ्ग्रहतत्परस्य गृहिणोऽपि–गृहस्थस्य एकाशनादि–एकवारमशनं यत्तत् एकाशनं तदादिर्यस्य तत् एकाशनादि, आदिशब्दात् निर्विकृतिकादि प्रत्याख्यातम् एकदा–पर्वादिदिवसे प्रत्याख्याय–कृत्वा कदाचिद् विस्मरणेन न रक्षितस्तस्य रक्षणं न कृतं चेद् भङ्गः स्यात्तदा हृदि तीव्रोऽनुतापः–पश्चात्तापो भवेत्–'अहो ! मया मन्दभाग्येन प्रत्याख्यानं भग्नम् ' । ये हीनाचारिणः षट्कृत्वः–षड्वारान् त्रिवारं–सन्ध्याप्रतिक्रमणे त्रिवारं प्रातः प्रतिक्रमणे इति त्रिविधं, त्रिधा–मनोवाक्कायैः–करणकारणानुमतिवर्जनेनेति, अनुदिनं–निरन्तरं प्रोच्य–मुखे उच्चार्यापि भञ्जन्ति तेषां तपः क ?, सत्यवचनं क ?, ज्ञानिता क ?, व्रतं क ? अपि तु न कथञ्चित् ॥ २३ ॥

देवार्थव्ययतो यथारुचिकृते सर्वर्तुरम्ये मठे,
नित्यस्थाः शुचिपट्टतूलशयनाः सद्गब्दिकाद्यासनाः ।

सारम्भाः सपरिग्रहाः सविषयाः सेर्ष्याः सकाङ्क्षाः सदा,
साधुव्याजविटा अहो ! सितपटाः कष्टं चरन्ति व्रतम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—देवा० ॥ अहो ! इति आश्चर्ये सितपटाः-श्वेताम्बराः व्रतं कष्टं-दुःखतया चरन्ति-समाचरन्ति। किम्भूताः ? मठे-स्वस्थाने नित्यस्थाः-नित्यवासिनः। कथम्भूते मठे ? देवार्थव्ययतः-देवद्रव्यव्ययाद् यथारुचिकृते-स्वेच्छया विरचिते, ते स्वेच्छाचारिणो देवद्रव्यं स्वस्थानेषु लगयन्ति। पुनः कथम्भूते ? सर्वरिचुरम्ये-अनेकजालिकागवाक्षादिकरणे पद्भरितुमनोहरे। पुनः किम्भूतास्ते ? शुचयः-पवित्रा याः पट्टतूल्यो-हंसरुतादिमयाः शय्याविशेषास्तत्र शयनाः। पुनः किम्भूताः ? सद्गव्दिकाद्यासना-प्रधानगव्दिकाद्यासनाः, आदिशब्दान्मसूरकादिग्रहः। पुनः किम्भूताः ? सारम्भाः-आरम्भसहिताः। पुनः किम्भूताः ? सपरिग्रहाः-परिग्रहेण सहिताः, पुनः किम्भूताः ? सविषयाः विषयः पञ्चप्रकारस्तेन सहिताः। पुनः सेर्ष्याः, सहईर्ष्यया वर्त्तत इति सेर्ष्याः। पुनः किम्भूताः ? सदा-निरन्तरं सकाङ्क्षाः, सहकाङ्क्षया-द्रव्यादिवाञ्छया वर्त्तते ये ते सकाङ्क्षाः। पुनः साधुव्याजेन-साधुच्छलेन विटाः-लम्पटा इव, दुराचारदर्शनेन तेषां निन्दनम् ॥ २४ ॥

इत्याद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिं,
श्रुत्वाऽन्येऽभिमुखा अपि श्रुतपथाद् वैमुख्यमातन्वते।
मिथ्योक्त्या सुदृशोऽपि बिभ्रति मनः सन्देहदोलाचलं,
येषां ते ननु सर्वथाजिनपथप्रत्यर्थिनोऽमी ततः ॥ २५ ॥

व्याख्या—इत्या० ॥ लोकाः-परतीर्थिकादयः स्थितिं-हीनाचारिसामाचारी प्रेक्ष्य-विलोक्य इत्याद्युद्धतसोपहासवचसः, इत्यादिपूर्वोक्तविटादिप्रकारेण उद्धतानि-उत्कटानि सोपहासानि-हास्यसहितानि वचांसि येषां ते, एवंविधाः स्युः-भवेयुः, हास्यं कुर्वन्तीत्यर्थः। अन्ये केचन तेषामाचारं श्रुत्वा अभिमुखाः-सन्मुखा वाऽपि श्रुतपथात्-सिद्धान्तमार्गात् वैमुख्यं-पराङ्मुखत्वम् आतन्वते-भजन्ते। येषां हीनाचारिणां मिथ्योक्त्या-मिथ्याभाषणेन अहो ! अमी अन्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः, इतिरूपेण सुदृशोऽपि-सम्यग्दृशोऽपि पुरुषाः मनःसन्देहदोलाचलं बिभ्रति-धारयन्ति, सन्देह एवं दोला तया चलम्, 'इदं सत्यमिदं वा सत्य'-मिति सन्देहास्पदे मनः स्यात्, ननु-निश्चितं तेऽमी-चैत्यवासिनः ततः-तस्मात्सर्वथा जिनमतप्रत्यर्थिनः-जिनमतवैरिणः ॥ २५ ॥

सर्वैरुत्कटकालकूटपटलैः सर्वैरपुण्योच्चयैः,
सर्वैर्व्यालकुलैः समस्तविधुराधि–व्याधि–दुष्टग्रहैः ।
नूनं क्रूरमकारि मानसममुं दुर्मार्गमासेदुषां,
दौरात्म्येन निजिघृक्षुषां जिनपथं वाचैषसेत्यूचुषाम् अतः ॥ २६ ॥

व्याख्या–सर्वै० ॥ अमु–प्रसिद्धं चैत्यवासिविहितं दुर्मार्गम् आसेदुषां–सेव्यमानानां मानसं–चित्तं नूनं–निश्चितं क्रूरम् अकारि–कृतम् । कैः क्रूरं कृतं ? तत्राह–सर्वैरुत्कटकालकूटपटलैः–अत्युग्रसद्योघातिविषसमूहैः, सर्वैः–समस्तैः अपुण्योच्चयैः–पापराशिभिः । पुनः सर्वव्यालकुलैः–समस्ताशीविषसमूहैः । पुनः समस्तविधुराधिव्याधिदुष्टग्रहैः, सर्वं विधुरं–कष्टम्, आधिः–मानसी पीडा, व्याधिः–रोगः दुष्टग्रहास्तैः । एतैः पुद्गलैर्महादुष्टं तेषां मनः कृतम् । कथम्भूतानां तेषां ? दौरात्म्येन–दुष्टात्म्यत्वेन जिनपथं–जिनमार्गं निजिघृक्षुषाम्–उच्छेत्तुकामानाम् । पुनःकिम्भूतानां ? वाचा–वाण्या 'एष यः स मार्गः' इत्यूचुषां–कथयितॄणां दुर्मार्गमपि सुमार्गतया प्ररूपकाणामिति ॥ 'अतः' इति भिन्नपदम्–अस्मात्कारणात् ॥ २६ ॥

तत्र कारणमाह—

दुर्भेदस्फुरदुग्रकुग्रहतमःस्तोमास्तधी चक्षुषां,
सिद्धान्तद्विषतां निरन्तरमहामोहादहम्मानिनाम् ।
नष्टानां स्वयमन्यनाशनकृते बद्धोद्यमानां सदा,
मिथ्याचारवतां वचांसि कुरुते कर्णे सकर्णः कथम् ॥ २७ ॥

व्याख्या–दुर्भेद० ॥ मिथ्याचारवतां मिथ्या–विपरीत आचारो येषां ते मिथ्याचारवंतस्तेषां हीनाचारिणां वचांसि–वाक्यानि सकर्णो–विद्वान् कर्णे कथं केन प्रकारेण कुरुते अपितु हीनाचारि धर्मोपदेशवाक्यमपि न श्रोतव्यं कथंभूतानां दुर्भेद० दुर्भेदो–दुरुच्छेदः स्फुरन्–दीप्त उग्र–उत्कटो यः कुग्रहः–कदाग्रहः सएव तमस्तमोऽधंकार–पटलं तेन अस्तं आच्छादितं धीचक्षु–ज्ञानलोचनं येषां ते । पुनः कथंभूतानां सिद्धांत-द्विषतां–सिद्धांतवैरिणां पुनः कथं भूतानां निरंतरमहामोहात्–निरंतरमहामोहनीय–कर्मणः सकाशात् अहंमानिनां–अभिमानवतां पुनः किं स्वयमात्मनानष्टानां–भ्रष्टानां पुनः कथंभूतानां सदा अन्य नाशनकृतेऽन्यभ्रंशकराय बद्धोद्यमानां–कृतोद्यमानां स्वयं नष्टोऽन्यान्नाशयति इति अतएव तेषां वचो न श्रोतव्यमिति ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद्वितथं यदप्यनुचितं यल्लोकलोकोत्तरो-
त्तीर्णं यद् भवहेतुरेव भविनां यच्छास्त्रबाधाकरम् ।
तत्तद्धर्म इति ब्रुवन्ति कुधियो मूढास्तदर्हन्मत,-
भ्रान्त्या लान्ति च हा ! दुरन्तदशमाश्चर्यस्य विस्फुर्जितम् ॥ २८ ॥

व्याख्या—यत्किञ्चि० ॥ कुधियः—कुपण्डितास्तत्तत् वस्तुधर्मरूपतया ब्रुवति, तत्किं ? यत् किं तत्राह—य किंचित विघनं अलीकं श्रेणिकराजरजोहरणवंदनादि यदपि अनुचितं अयोग्यं पित्राद्युद्देशेन यात्राकरणादि अथवा जिनमंदिरे लकुडक्रीडादिअयोग्यं, यत् लोकलोकोत्तरोत्तीर्ण—लोकलोकोत्तरमार्गेत उत्तीर्णं बाह्यं सूतकगृहे भिक्षाग्रहणादि-रजस्वलापूजा, हीनजातिभ्यः परमेष्ठिमन्त्रपाठनं दीक्षणं जैनेन्द्रप्रतिमाकारणं च, तथा यद् भविनां—भव्यानां भवहेतुः—संसारहेतुः । एवं निश्चयेन जिनमन्दिरे जलक्रीडादि यत् शास्त्रस्य बाधाकरं—सिद्धान्तविरुद्धम् आधाकर्मभोजनादि । अथ श्रावणाधिक्ये पर्युष-णाया अशीतितमेऽह्नि विधानम्, इत्यादि धर्मतया प्ररूपयन्ति मूढाः—मूर्खास्तद् अर्ह-न्मतभ्रान्त्या—भगवन्मतभ्रमेण लान्ति—स्वीकुर्वन्ति शुक्तिशकले रजतवत् । 'हा' इति खेदे दुरन्तदशमाश्चर्यस्य—दुष्टासंयतपूजालक्षणस्य विस्फूर्जितं—विलसितं पश्यतेति ॥२८॥

कष्टं नष्टदिशां नृणां यदद्दशां जात्यन्धवैदेशिकः,
कान्तारे प्रदिशत्यभीप्सितपुराध्वानं किलोत्कन्धरः ।
एतत्कष्टतरं तु सोऽपि सुदृशः सन्मार्गगांस्तद्विद,-
स्तद्वाक्याननुवर्त्तिनो हसति यत्सावज्ञमज्ञानि च ॥ २९ ॥

व्याख्या—कष्टं० ॥ यस्मात्कारणात् किलेति सत्येन नृणां—मनुष्याणां जात्य-न्धवैदेशिकः, जात्या—जन्मना अन्धः—नेत्रविकलः, स चासौ वैदेशिकः—विदिशोत्पन्नः । एवम्भूतः कश्चित् कान्तारे—अटव्याम् अभीप्सितपुराध्वानम्, अभीप्सितस्य—इष्टस्य पुरस्य अध्वानं—मार्गं प्रदिशति दर्शयति तत्कष्टम् । कथम्भूतानां नृणां ? नष्टदिशां—दिङ्मूढानाम् । पुनः कथम्भूताम् ? अदृशां—दृष्टिविकलानामन्धा—नाम् कथम्भूतो जात्यन्धवैदेशिकः ? उत्कन्धरः—ऊर्ध्वीकृतग्रीवः, यो मार्गं दर्शयति स ग्रीवामूर्ध्वी-करोति । तु—पुनः एतत् कष्टतरम्—अतिशयेन कष्टं, तदाह—सोऽपि जात्यन्ध वैदेशिकः यत्—यस्मात सुदृशः—सुनेत्रान् पुरुषान् हसति तत्कष्टतरम् । कथम्भूतान् सुदृशः ? सन्मार्गगान्—शोभनमार्गगमनशीलान् । पुनः कथम्भूतान् ? तद्विदः—शोभनमार्गगमन ज्ञातॄन् पुनः कथम्भूतान् ? तद्वाक्यानतुवर्तिनः, तद्वाक्ये—जात्यन्धवाक्ये अनुवर्त्तिनः—

न प्रवर्त्तकास्तान्। कथं हसति? तत्राह—सावज्ञं-साहङ्कारम् अज्ञानिव-मूर्खानिव, यथा अज्ञा हसन्ति तथा सोऽपि हसति-अहो! मद्वाक्येन गच्छति। एतत्तु कष्टतरं यत्तस्य मार्गदर्शनं तत्तु कष्टम्॥ २९॥

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमयह्रसद्भव्यभावानुभावा,-
त्रिंशश्चोग्रग्रहोऽयं खखनखमितवर्षस्थितिर्भस्मराशिः।
अन्त्यं चाश्चर्यमेतज्जिनमतहतये तत्समा दुष्षमा चे,-
त्येवं दुष्टेषु पुष्टेष्वनुकलमधुना दुर्लभो जैनमार्गः॥ ३०॥

व्याख्या—सैषा०॥ सा एषा-प्रत्यक्षा हुण्डावसर्पिणी-हुण्डसंस्थानेन सहिताऽवसर्पिणी-एतत्कालः। कथम्भूता? अनुसमयह्रसद्भव्यभावानुभावा, अनुसमयं-प्रतिसमयं ह्रसन्तः-हीयमानाः भव्याः-प्रधानाः, भावाः-पदार्थास्तेषामनुभावः-प्रभावो यस्यां सा-अनुसमयह्रसद्भव्यभावानुभावा। च-पुनः त्रिंशः-त्रिंशत्तमोऽयं भस्मराशिरुग्रग्रहः-उत्कृष्टग्रहः। कथम्भूतः? एकराशौ ख-ख-नखमितवर्षस्थितिः, खं खं-शून्यं शून्यं नखाः विंशतिस्तन्मित(२०००) वर्षस्थितिः-अङ्कानां वक्रगत्या द्विसहस्रवर्षस्थितिः। च-पुनः एतत्-प्रत्यक्षम् अन्त्यमाश्चर्यम्-असंयतपूजालक्षणं तत्समा-पूर्वोक्तत्रिवैरितुल्या, दुष्षमाकालभेदः, जिनमतहतये-जिनमतहानिकरणाय, इत्येवं चतुर्षु दुष्टेषु-शत्रुषु अनुकलं-निरन्तरं पुष्टेषु सत्सु अधुना जैनमार्गो दुर्लभः। एकस्यापि वैरिणः पोषे साधुवृद्धिर्न कथं चतुःशत्रुपोषे जैनमार्गे वृद्धिः?॥ ३०॥

अथ गुणिद्वेषधीद्वारं दर्शयति—

सम्यग्मार्गपुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोल्लसच्चक्षुषः,
श्रामण्यर्द्धिमुपेयुषः स्मयमुषः कन्दर्पकक्षप्लुषः।
सिद्धान्ताध्वनि तस्थुषः शमयुषःसत्पूज्यतां जग्मुषः,
सत्साधून् विदुषः खलाः कृतद्रुषः क्षाम्यन्ति नोद्यद्रुषः॥ ३१॥

व्याख्या—सम्यग्०॥ खला-दुर्जनाः चैत्यवासिनः सत्साधून्-शोभनाननगारान् न क्षाम्यन्ति। कथम्भूतान्? सम्यग्मार्गपुषः-शुद्धमार्गपोषकान्। पुनः किं विशिष्टान्? प्रशान्तवपुषः-प्रशान्तस्वरूपशरीरान्। पुनः कथम्भूतान्? प्रीते उल्लसन्ती चक्षुषी येषां ते तान्। पुनः किम्भूतान्? श्रामण्यर्द्धिचरित्रसमृद्धिमुपेयुषः-प्राप्नुवन्तः। पुनः किम्भूतान्? स्मयमुषः, स्मयम्-अहङ्कारं मुष्णन्तीति अहङ्कारतिरस्कारिणः पुनः

किम्भूतान् ? कन्दर्पकक्षप्लुषः-कन्दर्प एव कक्षं-शुष्कतृणं तं प्लुषन्ति-दहन्ति ये ते । पुनः किम्भूतान् ? सिद्धान्ताध्वनि-सिद्धान्तमार्गे तस्थुषः-स्थितवन्तः । शमयुषः-उशपमयुक्तान् । पुनः किम्भूतान् ? सत्पूज्यतां-विवेकिपूज्यत्वं जग्मुषः-प्राप्तान् । पुनः विदुषः-दक्षान् । अथ कीदृशाः खलाः ? कृतदुषः-विहितदोषाः । पुनः किम्भूताः ? उद्यद्रुषः,उद्यन्-प्रकटीभवन् रुषः-रोषो येषां ते, एवम्भूता, गुणिषु द्वेषं वहन्त्येव ॥३१॥

देवीयत्युरुदोषिणः क्षतमहारोषानदेवीयति,
सर्वज्ञीयति मूर्खमुख्यनिवहं तत्त्वज्ञमज्ञीयति ।
उन्मार्गीयति जैनमार्गमपथं सम्यग्पथीयत्यहो ?,
मिथ्यात्वग्रहिलो जनः स्वमगुणाग्रण्यं कृतार्थीयति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—देवी० ॥ 'अहो ?' इत्याश्चर्ये मिथ्यात्वग्रहिलो जनः-मिथ्यात्वेन गर्गीभूतो लोकः, एवं कुरुते, तत्राह-उरुदोषिणः-प्रबलदोषयुक्तान् देवीयति-देवतया मन्यते । अथ क्षतमहादोषान्, क्षताः-(वि)नाशिता महादोषा यैस्ते तान् वीतरागान् भ्रमत्वेन अदेवीयति-देवतया नाङ्गीकरोति, पुनः मूर्खमुख्यनिवहं-मूर्खप्रधानसमूहं सर्वज्ञीयति-सर्वज्ञतया मन्यते, तत्त्वज्ञं-तत्त्वज्ञातारम् अज्ञीयति-अज्ञतया मन्यते । जैनमार्गमुन्मार्गीयति । पुनः अपथं-कुमार्गं सम्यक् पथयति-सुमार्गतया मन्यते । अगुणैरग्रण्यं-निर्गणप्राधान्यं स्वम्-आत्मानं कृतार्थीयति-गुणवत्तया मन्यते ॥ ३२ ॥

सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत,-
स्तन्मुद्रादृढपाशबन्धनवतः शक्तस्य न स्पन्दितुम् ।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः,
सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिणव्रातस्य मोक्षः कुतः ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या—सङ्घत्रा० ॥ जन्तुहरिणव्रातस्य, जन्तवः-प्राणिनो भव्यास्त एव हरिणः-मृगास्तेषां व्रातं-समूहस्तस्य-भव्यजनमृगसमूहस्य मोक्षः-मुक्तिः कथमपि तु न । कथम्भूतस्य जन्तुहरिणव्रातस्य ? सङ्घव्याघ्रवशस्य, सङ्घ-हीनाचारिसमुदायः, स एव व्याघ्रः-मृगारिस्तद्वशस्य-वशीभूतस्य । यथा व्याघ्र-वशस्य हरिणस्य मोक्षः-छुटनं न तथा कुसङ्घव्याघ्रवशस्य भव्यहरिणस्य मुक्तिगमनं न । कथम्भूतस्य जन्तुहरिणव्रातस्य ? सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्य, सङ्घस्य-लिङ्गिसमुदायस्य दानाय कृतानि सङ्घत्राकृतानि यानि चैत्यानि-जिनभवनानि श्रावकैर्निर्माप्य लिङ्गिभ्यो दत्तानि, देये 'त्रा' प्रत्ययः,

तान्येव-चैत्यान्येव कूटः हरिणबन्धनयन्त्राणि तत्र पतितस्यान्यस्य मृगस्य कूटे पतितस्य मोक्षः कष्टेन। पुनः कथम्भूतस्य? तराम्-अत्यर्थम् अन्तः-मध्यहृदये ताम्यतः-खेदं कुर्वतः 'कदाछुटिष्येऽह'-मिति खिद्यमानस्य। पुनः कथम्भूतस्य? तन्मुद्रादृढपाशबन्धनवतः, तस्य कुसङ्गस्य मुद्रा-मर्यादा 'अस्मच्चैत्य एव समागन्तव्य'-मिति, सैव दृढः-निबिडो यः पाशस्तस्य बन्धनं यस्य स तस्यान्यस्य हरिणस्य दवरिकादिनिर्मितग्रंथिविशेषपाशे पतितस्य मोक्षो नेति। पुनः किम्भूतस्य? स्पन्दितुं-चलितुं न शक्तस्य-न समर्थस्य। पुनः किम्भूतस्य भव्यजन्तोः? मुक्त्यै-मुक्त्यर्थं कल्पितदानशीलतपसोऽपि, कल्पितम्-आचरितं स्वबुद्ध्या दानं शीलं तपो येन तस्य, यद्यपि तपःप्रभृति मुक्त्यर्थं करोति तथापि न मोक्षः। पुनः कथम्भूतस्य? एतत्क्रमस्थायिनः, एतस्य-कुसङ्गस्य यः क्रमः-परम्परा तत्र स्थायिनः। हरिणपक्षे एतस्य मृगस्य प्रहारार्थं सज्जितः क्रमः-चरणस्तत्र स्थायिनः पादपतितस्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ॥ इति द्वारदशकं व्याख्यातम् ॥

पुनरप्याह—

इत्थं मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चिन्-
भेदं ज्ञासीदनुचितमथो मा कुपत्कोऽपि यस्मात्।
जैनभ्रान्त्या कुपथपतितान् प्रेक्ष्य नॄंस्तत्प्रमोहा,-
पोहायेदं किमपि कृपया कल्पितं जल्पितं च ॥ ३४ ॥

व्याख्या-इत्थं० ॥ इत्थम्-अमुना प्रकारेण तथ्ययाऽपि-सत्ययाऽपि मिथ्यापथकथनया, मिथ्यापथस्य-हीनाचारिमार्गस्य कथना-प्रकटना तया, इह प्रवचने कश्चिज्जन्तुर्जिनशासनस्थः मा इदं ज्ञासीत्, यदिदं परदोषोद्घाटनम् अनुचितम्-अयोग्यम्। अथो-अथवा कोऽपि-कश्चिदपि मा कुप्यत्-मा क्रुध्यते यत् 'किमनेन रागद्वेषवाक्येने'-ति कोपं-द्वेषं मा करोतु यस्मात्कारणात् जैनभ्रान्त्या-जैनमार्गभ्रमेण कुपथपतितान् कुपथे हीनाचारीप्ररूपिते पतीतान् नॄन्-नरान् प्रेक्ष्य अथ तत्प्रमोहापोहाय, तेषां-जन्तूनां प्रमोहः-अज्ञानं तस्याऽपोहः-निराकरणं तस्मै, तन्मोहनिराकरणाय इदं-प्रत्यक्षं किमपि कियन्मात्रं कृपया-दयया 'अहो! अमी वराकाः कथं भविष्यन्ती?' ति कृपया कल्पितं-प्रोक्तं च-पुनर्जल्पितं-ग्रन्थरचनया प्रारब्धं न तु रागद्वेषाभ्यामिति ॥ ३४ ॥

तत्र कारणमाह—

प्रोद्भूतेऽनन्तकालात्कलिमलनिलये नाम नेपथ्यतोऽर्हन्,
मार्गभ्रान्तिं दधानेऽथ च तदभिमरे तत्त्वतोऽस्मिन् दुरब्दे।

कारुण्याद् यः कुबोधं नृषु निरसिसिषुर्दोषसङ्ख्यां विवक्षे;
दम्भोऽम्भोधेः प्रमित्सेत् स सकलगगनोल्लङ्घनं वा विधित्सेत् ॥ ३५ ॥

व्याख्या–प्रोद्भू० ॥ यः पुरुषः अस्मिन् दुरध्वे–दुष्टमार्गे हीनाचारिप्ररूपिते दोषसङ्ख्याम्–इयत्तया दोषपरिमाणं विवक्षेत्–वक्तुमिच्छेत् स पुरुषः अम्भोधेः–समुद्रस्य अम्भः–जलं प्रमित्सेत्–प्रमातुमिच्छेत् वा–अथवा सकलगगनोल्लङ्घनं–समस्ताकाशस्य पद्भ्यामुल्लङ्घनं विधित्सेत्–कर्त्तुमिच्छेत् । यथा समुद्रजलमानम् आकाशलङ्घनं कर्त्तुमशक्यं तथा हीनाचारिदोषसङ्ख्या वक्तुं न पार्यत इति । कथम्भूतः ? यः कारुण्यात्–दयातो नृषु–नरेषु कुबोधं–कुतत्त्वज्ञानं निरसिसिषुः–भक्तुमिच्छुः । कथम्भूते दुरध्वे ? अनन्तकालात्–अनन्तकालेन प्रोद्भूते–संजाते । पुनः किम्भूते ? कलिमलनिलये–पापस्थाने । पुनः किम्भूते ? नामनेपथ्यतः, नाम्ना नेपथ्यं–वेषस्तस्मात् नाममात्रवेषधारणतोऽर्हन्मार्गभ्रान्ति दधाने 'अहो ! अमी वेषमात्रधारका अपि साधवः' इति भ्रान्ति विधायके । अथ च–पुनरपि तत्त्वतः–परमार्थतः–तदभिमरे, तस्य–अर्हन्मतस्य अभिमरे–घातके चौरप्राये, यथा चौराः प्रच्छन्नवृत्त्या वेषपरावर्त्तेन राजादिकं घ्नन्ति तथा एतेऽपि लिङ्गमात्रधारकत्वेनाऽर्हन्मार्गघातका एवेति ॥ ३५ ॥

न सावद्याम्नाया न बकुश–कुशीलोचितयति,
क्रियामुक्ता युक्ता न मद–ममता–जीवनभयैः ।
न संक्लेशावेशा न कदभिनिवेशा न कपट,–
प्रिया ये तेऽद्यापि स्युरिह यतयः सूत्ररतयः ॥ ३६ ॥

व्याख्या–न सा० ॥ ते अद्यापि–साम्प्रतमपि इह–जिनशासने यतयः–साधवः स्युः ये एवंविधाः । किम्भूताः ? न सावद्याम्नायाः, सावद्यः–सपापः आधाकर्मभोजनादिरूपम् आम्नायः–परम्परा येषां ते तथा चैत्यवासाद्याम्नायवन्तो ये नेत्यर्थः । पुनः किम्भूताः ? बकुशकुशीलोचितयति–क्रियामुक्ता न, बकुशं–सबलम् अतिचारपङ्केन चारित्रं येषां ते बकुशाः, कुत्सितं शीलं–चरणं येषां ते कुशीलाः, तेषामुचिता–योग्या या यतिक्रिया–साधुसामाचारी तया मुक्ता–वियुक्ता न ये तावद् बकुशकुशीलक्रियावन्तस्तेऽधुना सुसाधव एव, "बकुशकुशीले हि वट्टपरितित्थं" इतिवचनात् । अत्र पञ्च निर्ग्रन्थाः–बकुश–कुशील–पुलाक–निर्ग्रन्थ–स्नातकभेदात् । बकुशा द्विविधा उपकरण–देहभेदात् । ये वर्षे प्रत्यासत्तिमन्तरेणापि कदाचिद् वस्त्रादिकं धावति श्लक्ष्णांशुकादि जिघृक्षन्ति, कदाचित्परिदधते, पात्रदण्डकाद्यपि घृष्टतैलादिम्रक्षणोत्पादित-

तैजस्कं च धारयन्ति, उपकरणमप्यतिरिक्तं चार्थयन्ते ते उपकरणबकुशाः । ये करचरणनखादीन् कदाचिन्निर्निमित्तं भूषयन्ति ते देहबकुशाः । इमे द्विविधा अपि शिष्यादिपरिवारादिकां विभूतिं तपःपाण्डित्यादिप्रभवं च यशः प्रार्थयन्ते, प्रमोदन्ते छेदार्हैश्चातिचारैर्बहुभिः शबलिता अपि कर्मक्षयार्थमुद्यता इत्यादि । कुशीलो द्विविधः आसेवनाकषायभेदात्, ये ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि किञ्चिदुपजीवन्ति ते आसेवनाकुशीलाः, ये क्रोधादिभिः कषायै-र्ज्ञानादिगुणान् विराधयन्ति ते कषायकुशीलाः मूलोत्तरगुणविराधकाश्च पञ्चनिर्ग्रन्थमध्ये केऽपि । पञ्चानां विस्तरतः स्वरूपं श्री भगवतीसूत्रादिभ्यश्च ज्ञेयम् । ननु ये एवं शिथिलक्रियायुक्ताः कर्तितकेशा उपकरणधारकाः मूलोत्तरगुणविराधकास्ते निर्ग्रन्थाः कथं तेषां स्वरूपं केन प्रकारेण ? इति चेदुच्यते-एतेषां कर्त्तव्यता तावत् प्रवाहमार्गेण नास्ति किन्तु कदाचिन्महति कारणे जाते धात्रनादिका क्रिया, इति, मूलगुणविराधनं च मनश्च विराधनादिप्रकारेणेति रहस्यं सदा तत्कर्त्तव्यता नास्तीति ॥ पुनः किम्भूताः ? मदममताजीवनभयैः, मदो-गर्वः, ममता-प्रतिबन्धः, आजीवनभयं भिक्षाद्या जीविकाभयं, तैर्मदममताजीवनभयैः न युक्ताः-न स्पृष्टाः । पुनः किम्भूताः ? न संक्लेशस्य-रौद्राध्यवसायस्य आवेशः-उत्कर्षो येषां ते न संक्लेशावेशाः । पुनर्न कदभिनिवेशाः, कत्-कुत्सितः अभिनिवेशः-कदाग्रहो येषां ते, तथा कपटप्रियाः-मायावल्लभा न पुनः किम्भूताः ? सूत्ररतयः सूत्रे रतिर्येषां ते सूत्ररतयः-सिद्धान्तरुचयः ॥२६॥

संविग्नाः सोपदेशाः श्रुतनिकषविदः क्षेत्र कालाद्यपेक्ष्या,-
ऽनुष्ठानाः शुद्धमार्गप्रकटनपटवः प्रास्तमिथ्याप्रवादाः ।
वन्द्याः सत्साधवोऽस्मिन्नियम-शम-दमौचित्य-गाम्भीर्य-धैर्य,-
स्थैर्यौदार्याग्र्यचर्याविनय-नय-दया-दक्ष्य-दाक्षिण्यपुण्याः ॥ २७ ॥

व्याख्या-संविग्नाः० ॥ अस्मिन्-जिनशासने एवम्भूताः सत्साधवः-शोभनसाधवो वन्द्याः । किम्भूताः ? संविग्नाः-मोक्षाभिलाषुकाः । पुनः किम्भूताः ? सोपदेशाः, सह उपदेशेन-धर्मोपदेशेन वर्त्तन्ते ये ते सोपदेशाः । पुनः किम्भूताः ? श्रुतनिकषविदः-श्रुतमेव-शास्त्रमेव निकषः-कषपट्टस्तद्विदः-आगमरहस्यनिपुणाः । पुनः किम्भूताः ? क्षेत्रकालाद्यपेक्ष्यानुष्ठानाः,क्षेत्र-कालाद्यपेक्ष्य-क्षेत्रकालाद्यनुसारि, आदिशब्दाच्छरीरबलादिग्रहः, अनुष्ठानं-कर्त्तव्यता येषां ते द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य क्रियाकर्त्तार इति । पुनः किम्भूताः ? शुद्धमार्गप्रकटनपटवः, शुद्धमार्गस्य प्रकटने पटवः-सावधानाः । पुनः किम्भूताः ? प्रास्तः-दूरीकृतः मिथ्याप्रवादो यैस्ते प्रास्तमिथ्या-

प्रवादाः। पुनः किम्भूताः? नियम, नियमः-अभिग्रहः, शमः-उपशमः, दमः-इन्द्रियजयः, औचित्यं-योग्यता, गाम्भीर्यम्-अलक्ष्यविकारत्वं, धैर्यं-धीरत्वं, स्थैर्यं-विमृष्टकारित्वम्, औदार्यम्-उदारत्वम् आर्यचर्या-सत्पुरुषप्रवृत्तिः, विनयः-अभ्युत्थानादिः, नयः-न्यायः, दया-कृपा, दक्ष्यं-धर्मक्रियाऽनालस्यं, दाक्षिण्यं-सरलता, एभिर्गुणैः पुण्याः-पवित्राः ॥ ३७ ॥

स्वनामगर्भितकाव्यमाह—

बिभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनाशादं श्रुतोल्लङ्घने,
सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः-श्रीचन्द्रिकाभेश्वरम्।
वन्दे वर्ण्यमनेकधाऽसुरनरैः, शक्रेण चैनच्छिदं,
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरङ्गप्रदम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या-बिभ्रा० ॥ जिनं-तीर्थकरं वन्दे। किम्भूतं जिनं? बिभ्राजिष्णुम्-अतिशयैः शोभायमानम्। पुनः अगर्वम्-अहङ्काररहितम्। पुनः अस्मरं-कन्दर्परहितम्। पुनः किम्भूतं? श्रुतोल्लङ्घने-सिद्धान्ताज्ञाऽतिक्रमे अनाशादम्, आशां-मनोरथं ददातीति आशादः, न आशादोऽनाशादस्तम्। पुनः किम्भूतं? सज्ज्ञानद्युमणिं, सज्ज्ञानेन प्रधान-केवलज्ञानेन द्युमणिं-सूर्यम्। पुनः किम्भूतं? वरा-प्रधाना वपुःश्रीः-शरीरकान्तिः सैव चन्द्रिका-ज्योत्स्ना तया भेश्वरं-नक्षत्रनाथं चन्द्रम्। असुरनरैः-दानवमानवैः शक्रेण-इन्द्रेण अनेकधा-अनेकप्रकारेण वर्ण्यं-वर्णनीयम्। पुनः एनच्छिदम्, एनः-पापं छिनत्तीति पापच्छेदकमित्यर्थः। पुनः दम्भारिं, दम्भस्य-कपटस्य अरिः-वैरी दम्भारिस्तम्। पुनः विदुषां-पण्डितानां सदा-निरन्तरं सुवचसा-सुवाक्येन अनेकान्तरङ्गप्रदम्, अनेकान्तः-स्याद्वादस्तस्य रङ्गस्तं प्रददातीति अनेकान्तरङ्गप्रदस्तम्। वचनेन भगवान् स्याद्वादत्वं प्ररूपयन्तीति। चक्रमाघसमं, यथा माघकाव्ये चक्रबन्धतया वर्त्तते तथाऽत्र चक्रमाघतुल्यं चक्रबन्धं 'जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे' इति नाम वर्त्तते। चक्रस्थापना प्रसिद्धैव ॥ ३८ ॥

जिनपतिमतदुर्गे कालतः साधुवेषैः,—
विषयिभिरभिभूते भस्मकम्लेच्छसैन्यैः।
स्ववशजडजनानां शृङ्खलेव स्वगच्छे,
स्थितिरियमधुना तैरप्रथि स्वार्थसिद्ध्यै ॥ ३९ ॥

व्याख्या—जिनपति० ॥ तैः—चैत्यवासिभिः इयं स्वगच्छस्थितिः—स्वगच्छ-मर्यादा अधुना-साम्प्रतम् अग्रथि-विस्तारिता । कस्यै ? स्वार्थसिद्ध्यै—स्वोदरभरणप्रयोजनाय । कथम्भूता ? स्ववशजडजनानां, स्ववशाः—आत्मवशा ये जडाः—मूर्खाः जनाः—लोकास्तेषां शृङ्खला इव 'अस्मान् विमुच्य नान्यत्र गन्तव्यम्' एवं शृङ्खला । क सति ? साधुवेषैः—साधुवेषमात्रधारकैस्तैरेव कालतः पञ्चमारकात् जिनपतिमतदुर्गे अभिभूते-पराभूते, जिनपतेः—तीर्थंकरस्य मतं-शासनं तदेव दुर्गः—कोट्टविशेषस्तस्मिन् । कथम्भूतैः ? विषयिभिः—विषयसेवकैः । पुनः किम्भूतैः ? भस्मकम्लेच्छसैन्यैः, भस्मकः—भस्मग्रह एव म्लेच्छः—तुरुष्काधिपतिस्तस्य सैन्याः सैन्यस्वरूपास्ते, यथा तुरुष्काधिपतेः सैन्यं भवति तथा भस्मकस्यैते सैन्या इति ॥ ३९ ॥

सम्प्रत्यप्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक-
म्लेच्छातुच्छबले दुरन्तदशमाश्चर्ये च विस्फूर्जिते ।
प्रौढिं जग्मुषि मोहराजकटके लोकैस्तदाज्ञापरै-
रेकीभूय सदागमस्य कथयाऽपीत्थं कदर्थ्यामहे ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीसङ्घपट्टकसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

व्याख्या—सम्प्र० ॥ लोकैर्वयम् इत्थम्—अमुना प्रकारेण कदर्थ्यामहे । कया ? सदागमस्य कथयाऽपि, सन्—प्रधानः आगमः—सिद्धान्तस्तस्य सदागमस्य कथयाऽपि—कथनेनापि । यदा शुद्धमार्गस्य कथाऽपि क्रियते तदा लोकाः कदर्थनां कुर्वन्तीति । क्व सति ? सम्प्रति—अधुना भस्मकम्लेच्छातुच्छबले प्रोज्जृम्भिते, भस्मकः—भस्मग्रहः, स एव म्लेच्छः—तुरुष्काधिपतिस्तस्य अतुच्छं—प्रचुरं बलं तस्मिन् प्रोज्जृम्भिते—प्रोद्दीप्ते सति । कथम्भूते बले ? अप्रतिमे—महातेजस्विनि, पुनः कथम्भूते ? कुसङ्घः—वपुषि, कुसङ्घः—हीनाचारिसङ्घ एव वपुः—शरीरं यस्य स तस्मिन् प्रत्यक्षतो दृश्यमानकुसङ्घशरीरे च-पुनः दुरन्तदशमाश्चर्ये—दुष्टासंयतपूजालक्षणदशमाश्चर्ये विस्फूर्जिते—प्रकटीभूते सति । कविवचसा दशमाश्चर्यस्य पञ्चमारके प्रादुर्भावः । पुनः मोहराजकटके—मोहनीयकर्मरूपराजसैन्ये प्रौढिं—विस्तारत्वं जग्मुषि—प्राप्तवति । भस्मकग्रहचैत्यवास्यादयः सर्वेऽपि मोहनीयसैन्यरूपा एव । किं कृत्वा कदर्थ्यामहे ? एकीभूय—एकपक्षतां कृत्वा । कथम्भूतैर्लोकैः ? तदाज्ञापरैः, तस्य—मोहराजस्य आज्ञा, तत्र पराः—सावधानास्तैः—मोहाज्ञावशवर्तिभिः । संसाररूपनगरे मोहराजा दुस्सङ्घस्तस्य सैन्यं—भस्मग्रहो महासामन्तो दशमाश्चर्यं द्वितीयः सामन्त इति रहस्यमिति काव्यार्थः ॥ ४० ॥

ग्रन्थकारप्रशस्तिः

श्रीमत्खरतरगच्छे श्रीमज्जिनभद्रसूरिशाखायाम् ।
श्रीपद्ममेरुसुगुरु——र्व्यवहार्यत्वयसुरं दुरि च ॥ १ ॥

तच्छिष्यो वाक्पतिरिह, श्रीमन्मतिवर्द्धनो गुरुर्जीयात् ।
श्रीमेरुतिलकनामा, तत्प्राथमकल्पिकः समभूत् ॥ २ ॥

तच्छिष्यौ प्रवरगुणौ, दयाकलशसद्गणिप्रभाद्युमणिम् ।
अमरमाणिक्यसुगुरुः, समस्तसिद्धान्तधौरेयः ॥ ३ ॥

तच्छिष्येण सुविहिता, सुगमेयं साधुकीर्त्तिगणिनाऽपि ।
एकोनविंश[१६१९]समधिक,–षोडशसंवत्सरे प्रवरे ॥ ४ ॥

माघमासे शुक्लपक्षे, पञ्चम्यां प्रवरयोगपूर्णायाम् ।
विबुधैः प्रपद्यमाना, समस्तसुखदायिनी भवतु ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिकृत–सङ्घपट्टावचूरिः सम्पूर्णा ॥



कविचक्रवर्त्ति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितः पण्डितलक्ष्मिसेनविहितया स्फुटार्था-
भिधया लघुवृत्त्यासनाथः ।

सङ्घपट्टकः

इन्दीवरप्रभमनिंदितकांतिशाति–
धामार्चितं सुरवरैः किल वासवाद्यैः ॥
श्रीमज्जिनेशचरणं तरणाय सद्यः ।
सर्वेजना नमत किं कुरुतान्य चिन्ताम् ॥ १ ॥

गम्भीरार्थगतेर्लसत्पदरतेः श्रीसंघपट्टाभिध,–
ग्रन्थस्यास्य यथामति प्रकुरुते टीकां स्फुटार्थभिधाम् ।
लक्ष्मीसेनसुधीः सुधीरनिवह प्रीत्यै जिनेशप्रभोः
पादाब्जा–र्चनलब्ध सन्मति रति श्रीमान् हमीरात्मजः ॥ २ ॥

तत्र तावदाद्यश्लोकार्थविवेचनमारभ्यते—

वन्हिज्वालावलीढं कुपथमथनधीर्मातुरस्तोकलोक ॥ १ ॥

व्याख्या—'वह्नि'रिति–तं देवं–पार्श्वनाथं वयं स्तुमः–प्रणमामः । तं कं ? यो देवः इति जगादेव–उक्तवानिव इति, किं ? प्राज्ञैः–पण्डितैः सद्यः–तत्क्षणादेव कुमार्ग–स्खलनं कार्यं–कर्त्तव्यं, सिद्धान्तविरुद्धमतनिराकरणं कर्तव्य–मित्यर्थः । किं कृत्वा ? स्वस्य आत्मनः विधुरमपि प्रपद्य । अपि सम्भावने कोऽर्थः ? कुमार्गस्खलनाद् यदि आत्मनो विधुरमपि किञ्चिद् भवति तथापि इति । किं कुर्वन् उक्तवान् ? कमठमुनितपः उच्चैः–अतिशयेन दुष्टं प्रकटयन्–प्रकटीं कुर्वन् । कोऽर्थः ? कमठनामतापसस्तावदेकः कश्चि-त्तपस्वी पञ्चाग्नि नाम तपः कुर्वन् पार्श्वनाथेनावलोकित, तस्य तत् तपो भगवता दुष्टं कृत-मित्यर्थः ॥ किं कृत्वा ? अखिललोकस्यग्रे ज्वलत्काष्ठमध्यात्सर्पं सन्दर्श्य, न केवलं अखिल-लोकस्याग्रे मातुर्वामदेव्याश्चाग्रे वामादेवी भगवन्माता, तस्या अपि पुरतः इत्यर्थः किं विशिष्टं नागं ? " अग्निज्वालावलीढं " अग्निशिखाकवलितं–अर्द्धदग्ध मित्यर्थः कथम्भूतो यः परमेश्वरः ? कुमार्गछेदनबुद्धियुक्तः । पुनः कथम्भूतः ? कारुण्यामृताब्धिः–कृपा-पीयूषसागरः ॥ १ ॥

श्रीउपदेशभणनयोग्यं श्रोतारं निरूपितुमाह—

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणाग्राहीति मिथ्यापथः....॥ २ ॥

व्याख्या—कल्याणाभि०-श्रोतृणां चतुर्दशगुणाः, श्रोतृशब्दाः सर्वेऽप्यत्र हेत्वर्थाः। अथ श्लोकान्वयः-भो श्रोतः! मया ग्रन्थकर्त्रा त्वमुच्यसे-कथ्यसे कथमिति? कल्याणाभिनिवेशवानिति, कोऽर्थः शुभरूपाग्रहवान् शोभनस्य रूपस्य आग्रहो विद्यते अस्येति स तथा। पुनः कथमिति? गुणग्राहीति गुणग्रहीतुं शीलमस्येति गुणग्राही। पुनः कथमिति? मिथ्यापथप्रत्यर्थीति यथा-छन्दः प्ररूपितोत्सूत्रमार्गस्तस्य विरोधी, पुनः कथमिति? विनीत इति ऋजुस्वभाव इति, अर्थाद् गुर्वादिषु। पुनः कथमिति अशठ इति अधूर्त्त इति। पुनः कथमिति? औचित्यकारीति-उचितस्य भाव औचित्यं, तत् कर्तुं शीलमस्येति। पुनः कथमिति? दाक्षिण्यीति दाक्षिन्ययुक्तः। पुन, कथमिति? दमीति-जितेन्द्रियः, पुनः कथमिति? नीतिभृदिति-नीतिं बिभर्तीति नीतिभृत्-सदाचारपरायण इत्यर्थः पुनः कथमिति? स्थैर्यीति-स्थैर्यगुणयुक्तः स्थिर इत्यर्थः। पुनः कथमिति? धैर्यीति-धीर इत्यर्थः। पुनः कथमिति? सद्धर्मार्थीति-सतां धर्मः सद्धर्म तस्यार्थः, सोऽस्यास्तीति शोभनधर्मगवेषकः। पुनः कथमिति? विवेकवानिति-युक्तायुक्तविचारचतुरः इत्यर्थः। पुनः कथमिति? सुधीरिति प्राज्ञ इत्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं युग्मश्लोकयो-र्व्याख्यानमारभ्यते—

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल....॥ ३ ॥
प्रोत्सर्प्यद् भस्मराशिग्रहसखदशमाश्चर्यसाम्राज्यपुण्य....॥ ४ ॥

व्याख्या—इह० ॥ प्रो० ॥ "किलेति" प्रसिद्धिः इह जगति विषयिभिः स्रक्चन्दनवनितादिसेविभिः अभितः-समंतात्। सोयं पंथा अप्रार्थि-प्रार्थितः-ख्यापितः। कथम्भूतः पंथा? जिनोक्तिप्रत्यर्थी-जैनशास्त्रविरोधी, कस्मिन् सति? प्राणिवर्गे-जीवसमूहे जैनेन्द्रमार्गे-जिनशासने विरलतां-तुच्छतां याति सति, कथम्भूते प्राणिवर्गे? कलिकालव्यालवक्त्रान्तरालस्थितिजुषि। कलिकाल एव व्यालः-सर्पस्तस्य वक्त्रं तस्यान्तरालं-मध्यं तत्र स्थितिः-स्थानं, तत् जुषते सेवते यः तस्मिन्। पुनः कथम्भूते प्राणिवर्गे? गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे। गतौ-नष्टौ तत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारौ यस्य तस्मिन्, इदानीं प्राणिवर्गे तत्त्वप्रीतिर्नास्ति। नीतेः प्रचारो व्यवहारश्च नास्तीत्यर्थः।

पुनः कथम्भूते ? प्रसरदनवबोधे–प्रादुर्भवत् सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञाने, कोऽर्थः ? सिद्धांतार्थसम्यग्ज्ञानरहिते । पुनः कथम्भूते ? प्रस्फुरत् कापथोथस्थगितसुगति-सर्गे उन्मीलन्तः–प्रकटी भवंतः ये कुमार्गाः–कुत्सितमार्गाः ते स्थगितः–तिरस्कृतो रुद्धः–अपवर्गलक्षणायाः सुगतेः सर्गो–निष्पत्तिर्यस्य तस्मिन् । कथम्भूतैः साधुवेषैः विषयिभिः ? संक्लिष्टद्विष्टमूढप्रखलजडजनाम्नायरक्तैः । कोऽर्थः ? समानधर्मजनो-पतापकारि–मत्सरि–हेयोपादेयविमर्शशून्यप्रकर्षपिशुनः दुर्बुद्धिचतुर्विध संघः, तस्या-म्नायः–शिष्यप्रशिष्यादिसंतानः, तत्र रक्तः–प्रीतिमंतः, तैः । पुनः कथम्भूतैः ? साधुवेषैः–सन्मुनिचिह्नधारिभिः कथम्भूते जैनेन्द्रमार्गे ? 'प्रोत्सर्प'दित्यादि प्रोज्जृम्भ-माणो यो भस्मराशिनामा क्रूरग्रहः, तस्य सखा–मित्रम्, असंयतपूजाख्यं रिपुविजय-पुरःसरं आज्ञैश्वर्यं वर्द्धमानं अतत्त्वे तत्त्वप्रतिपद्यमानरूपं यद् दशमाश्चर्यं तस्य साम्रा-ज्येन–प्राचुर्येण पुष्यन्–प्रादुर्भवन् मिथ्यात्वं, तदेव ध्वांत–तमिस्रं तेन व्याप्ते । अन्योऽपि मार्गो यद्यन्धकारावृतो भवति तदोच्छन्नतां यात्येव ॥ ३–४ ॥

इदानीं योग्यस्य श्रोतुः पुरतो धुर्त्तकल्पिते पथि दशभिर्द्वारैस्तत्र निरूपितं धर्मं प्रतिपादयन् तस्य धर्मस्य कर्मनिर्मूलने सामर्थ्यमसंभावयन्नाह—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा....॥ ५ ॥

व्याख्या—"यत्रौ०" यस्मिन्मार्गे औद्देशिकभोजनं, कोऽर्थः ? यतीन् मनसि कृत्वा निष्पादितं, जिनगृहे वासः–अर्हद्भवने सर्वदा निवासः, वसत्यक्षमा–गृहस्थ-गृहे वासं प्रति मात्सर्यम्, अथ गृहस्थचैत्यसदनेषु स्वीकारः–द्रव्यश्रावकजिनगृहेषु अङ्गीकारः, अप्रेक्षिताद्यासनं–स्वचक्षुषा अदृष्ट–मासनम्, सावद्याचरितादरः–सपापै-र्यदाचरितं, तस्यादरः, श्रुतपथावज्ञा–सिद्धान्तमार्गस्याऽनादरः, गुणिद्वेषधीः–यतिषु द्वेषबुद्धिः, इति दशद्वाराणि । एतैर्दशद्वारैः प्ररूपितो धर्मः । अत्र–असाधुकल्पिते पथि कर्म्महरश्चेद् भवेत्–कर्मक्षयकारी भवेत् तदा अब्धौ–समुद्रे मेरुस्तरेत् । यदा मेरुः समुद्रे तरति तदा एतस्माद् धर्म्मात् मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेतेषामेव दशद्वाराणां यथाक्रमं प्रत्याख्याने चिकीर्षुः प्रथमं तावज्जीवोप-मर्ददोषदृष्ट्या औद्देशिकभोजनद्वारं निषेद्धुमाह—

षट्कायान् उपमर्द्य निर्दयमृषीनाधाय यत् साधितं....॥ ६ ॥

व्याख्या—षट्कायानुपम० । नामेति संभावनायाम्, इह—प्रवचने सघृणो—दयालुः कः तद् भोजनं भोक्तुमिच्छति ? अपितु न कोऽपि—इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? सङ्घादिनिमित्तमेतन्निष्पन्नमिति जानन् । किं तद्भोजनं यत् षट्कायान्—षड्विधजीवनिकायान् उपमर्द्य—हत्वा निर्दयं यथा स्यात्, एवम् ऋषीन्—यतीन् आदाय—मनसि कृत्वा यत् साधितं निष्पादितं यद् भोजनम् असकृद्—वारं वारं शास्त्रेषु प्रतिषिध्यते—निवार्यते निशीथादिग्रन्थेषु यस्य निषेधो वर्तते, तद् भोजनं निस्त्रिंशताधायि निष्करुणताकारकम् । पुनः यद् भोजनं पण्डिताः गोमांसाद्युपमम् आहुः—गोमांसादिसदृशं कथयंति मूलादि । यद् भोजनं भुक्त्वा यतिरधोयाति—नरकं गच्छति तद् भोजनं प्राज्ञः कोऽपि न भोक्तुमिच्छति—इत्यर्थः ॥ ६ ॥

प्रथमं तावत् भोजनद्वारं निषेध्य जिनगृहनिवासं निषेधयितुमाह—

गायद् गन्धर्वनृत्यत् पणरमणिरणद् वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग ॥ ७ ॥

व्याख्या—"गायद् गन्धर्व०" खलु इति निश्चये अर्हन्तमतज्ञाः—जिनशास्त्रनिपुणाः सन्तः जिनगृहे न वसन्ति—न सततमवतिष्ठन्ते । कुतः ? विकारहेतुत्वात् । किंविशिष्टाः सन्तः ? त्रसन्तः, काभ्यः ? देवद्रव्योपभोगध्रुवमठपतिताऽऽशातनाभ्यः । देवद्रव्यस्य जिननैवेद्यादेः उपभोगः, सततं शयनं, भोजनादिकरणे उपभोगः, ध्रुवं—निश्चयं मठपतिता—मठाधिपत्यं, तथा भगवदशातनाः—जिनानां चतुरशीतिराशातनाः, एतेभ्यः बिभ्यन्तः । कथम्भूते जिनगृहे ? 'गायद् गन्धर्वे'त्यादि, गायन्तः गन्धर्वाः—प्रधानगायनाः यत्र नृत्यन्त्यः पणरमण्यो—वेश्या यत्र, रणन्तो—मधुरं ध्वनन्तो वेणवो—वंशाः यत्र, गुञ्जन्तो गम्भीरं स्वनन्तो मृदङ्गा प्रेङ्खन्त्योलम्बमानाः पुष्पस्रजः—पुष्पमाला यत्र, उद्यत्—सर्वतः प्रसरत् आमोदद्वारेण मृगमदः—कस्तूरिका यत्र, लसन्तः—पट्टांशुकमयत्वाद्दीप्यमाना उल्लोचानि—वितानानि यत्र, महाघनवसनभूषणाङ्गरागादिभूषितशरीरत्वात् शोभमाना जनौघाः—श्रावकसमूहा यत्र, तस्मिन् ॥ ७ ॥

वसत्यक्षमाद्वारं निरसितुं श्लोकद्वयेनाह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निषेवितोक्तां ॥ ८ ॥

चित्रोत्सर्गापवादे यदिह शिवपुरीदूतभूते निशीथे ॥ ९ ॥

व्याख्या—साक्षा० सकर्णः—सश्रवणः कः पुमान् परगृहे—गृहस्थगृहे वसतिं—

निवासं विद्वेष्टि। अकर्णः पुमान् कर्णौ विना सिद्धान्तोक्तामपि परगृहवसतिम्–अनाकर्णयन् निषेधेदपि। यः पुनः सकर्णः–श्रवणः स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु द्वेष्टि। किं कुर्वन्? मुनिपुङ्गवानां–यतिश्रेष्ठानां अनगारपदं जानन्–न विद्यते अगारो यस्येति जानन्। अथवा किं विशिष्टां वसतिं? 'शय्यातरोक्ति'मिति, शय्या वसतिराख्याता यतिभ्यो दानतया, तरति भवाम्भोधिं यया अनगारपदं शास्त्रे हि यतिवाचकत्वेन प्रतिपदं श्रूयते। ननु स्वगृह एव किमिति यतयो न वसति? तत्राह–मुनिपुङ्गवानां निःसंगता–स्वजनादि राहित्यं अग्रिमपदं–मुख्यस्थानम्। किंविशिष्टा निःसंगता? साक्षात्–प्रत्यक्षं जिनैः–तीर्थकृद्भिः निषेविता–उपभुक्ता, स्वमुखेन उक्ता च कथिता, न केवलं जिनैर्गणधरैश्च–गौतमप्रभृतिभिः। यतीनां स्वगृहं नास्त्येव, अतः परगृहवसतिरेव श्रेयसीत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्या—'चित्रोत्सर्गा०' सर्वत्र–सर्वस्मिन् वसति अधिकारे आगारधाम्नि–गृहस्थ गृह एव यतीनां निवासो न्ययामि, कोऽर्थः? व्यवस्थापितः, न तु क्वापि–कस्मिन्नपि ग्रन्थे, चैत्ये–जिनगृहे निवासो निरूपितः। किं कृत्वा? प्रागुक्त्वा–प्रथमं निशीथे भूरिभेदाः–बहुभेदाः वसतीः उक्त्वा। किं विशिष्टे निशीथे? चित्रोत्सर्गापवादे। चित्रौ–नानाविधौ बहुप्रकारौ उत्सर्गापवादौ–सामान्यविधि–विशेषविधी यस्मिन्। पुनः कथम्भूते निशीथे? शिवपुरीदूतभूते–मुक्तपुरीसन्देशहरसदृशे। पुनः किं कृत्वा? पश्चात्–तदनन्तरं कारणेऽपोह्य–अपवादविषयीकृत्य। किं विशिष्टे अगारधाम्नि? स्त्रीसंसक्त्यादि युक्तेऽपि–स्त्रीपण्डकादिसहितेऽपि। ननु विकारसामग्रीसहिते गृहस्थगृहे कथं यतीनां निवासः? इत्याह—अभिहितयतनाकारिणामिति–निशीथोक्तयतना सावधानानां संयतानां किं विकारहेतुभिरित्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु एवं यतना सावधानानां चैत्यवासेऽपि को दोषः? इत्यतः आह—

प्रव्रज्यापरिपंथिनं ननु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः ॥ १० ॥

व्याख्या—"प्रव्रज्या०" ननु निश्चितं तीर्थंकराः धनस्वीकारं–द्रव्यस्याङ्गीकारं प्रव्रज्यापरिपंथिनमाहुः॥ कोऽर्थः? दीक्षाशत्रुभूतं कथयन्ति स्म। क्व धनसंग्रहः? क्व दीक्षेतिद्वारम्। तु पुनः सर्वारंभ–परिग्रहं–सकलपापसहितानां गृहिणं। परिग्रहं अतिमहासावद्यं अतिशयमहासपापं आचक्षते–कथयंति। तेन गृहस्थपरिग्रह, सर्वथा यतीनां नोचित इति द्वारम्। चैत्यस्वीकरणे तु माठपत्यमेव स्यात्। यदा यतीनां जिनगृहस्य

स्वीकारास्तदा मठाधिपत्यमेव भवेत् । कथम्भूतं माठपत्यम् गर्हिततमं-प्रकर्षेण निन्दितं । यद्वा इति हेतोर्मुक्त्यर्थिनां पुंसाम् इति ममता युक्ता न-द्रव्यादिषु ममत्वं युक्तं नेत्यर्थः । कथम्भूता ममता ? व्रतवैरिणी चारित्रशत्रुभूता ॥ १० ॥

तत्र दशद्वाराणां मध्ये षड् द्वारा निषेध्य अवशिष्टद्वारचतुष्टयं निषेधयितुमाह श्लोक चतुष्टयेन—

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद् विभूषा ॥ ११ ॥

गृही नियतगच्छभाक् जिनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥

निर्वाहार्थिनमुज्झितं गुणलवैरज्ञातशीलान्वयं ॥ १३ ॥

दुष्प्रापा गुरुकर्म्मसंचयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां ॥ १४ ॥

व्याख्या—अत्र श्लोके सप्तमं द्वारं गद्दिकाद्यासनं निषिध्यते । अत्र गद्दिकाद्यासने विभूषा स्यात्-शोभा भवेत् । न केवलं शोभा, असंयमश्च भवति । कोऽर्थः ? जीवरक्षाऽभावश्च भवति नियतं-सर्वदा गद्दिकाद्यासने कथं शोभा भवेत् ? तत्राह-"नृपतिककुदं" एतदिति, यतः एतदासनं नृपतिककुदं-राज्यचिह्नमिति । तर्हि शोभाऽप्यभीष्टैवेत्याह-लोकहासश्चेति गद्दिकाद्यासने भिक्षोः केवलं शोभैव न भवति किन्तु लोकोपहासश्च भवति-'अहो ! भिक्षोपजीविनो मुण्डिता अपि एवंविधेष्वासनेषूपविशंति'। इह संगः लोकविदितः गद्दिकादौ परिग्रहः, उच्चैः-अतिशयेन सातशीलत्वं-सुखलोलुपता, इति हेतो मुमुक्षोः मोक्षाभिलाषिणः पुरुषस्य गद्दिकाद्यासनं संगतं न-युक्तं नेत्यर्थः । इति सप्तमं द्वारम् ॥ ११ ॥

सावद्याचरितादराख्यमष्टमं द्वारं निरूपयन्नाह—

व्याख्या—'गृही नियतगच्छ०' गतानुगतिकैः-गड्डरिकाप्रवाहरूपैः अनगारिणां-यतीनाम् असंस्तुतम्-अनुचितम्, अदः-एतत् कथं प्रस्तुतं-प्रारब्धम् । एतत् किं ? गृही-श्रावको नियतगच्छभाग् भवति, कोऽर्थः ? आत्मसदृशो गच्छो येषाम् तेषामेव समुदाय भजनेन गुणदोषादिकं विचारयति अन्य यतेः मुनेः जिनगृहे अधिकारः एतदपि विरुद्ध-मेव, अपरं च आरंभिभिः-गृहिभिः साधुषु-यतिषु यथा तथा, कोऽर्थः ? येनैव प्रकारेण तेनैव अशुद्धमपि अशनादि-भक्तपानादिप्रदेयं-वितरणीयम् । एतदपि विरुद्धमेव । अपरं च व्रतादिविधिवारणं-सर्वविरत्यादिविधेर्वारणं-निषेधः । एतदपि विरुद्धम् । सुविहितान्तिके-सन्तिके-सन्मुनिसमिपे कथं प्रारब्धमित्यर्थः ॥ अष्टमं द्वारम् ॥ १२ ॥

नवमं द्वारं निशेधयितुमाह—

व्याख्या—निर्वा० जनाः—लोकाः यत् ईदृशं यतिं देवेभ्योऽपि—जिनेभ्योऽपि अधिकं यथा स्यात् तथा अर्चयन्ति—पूजयन्ति तत् महतः—प्रबलस्य मोहस्य—अज्ञानस्य जृम्भितं—लीलायितं। कीदृशं यतिं ? निर्वाहार्थिनं, कथं ? निर्वाहो—जीविका भवतीत्ययमेवार्थः प्रयोजनं यस्य तम्। पुनः कीदृशं ? गुणलवैः—गुणलेशैरपि उज्झितं—त्यक्तम्। पुनः कथम्भूतं ? अज्ञातशीलान्वयं अविदिताचारकुलं पुनः कथम्भूतं गुरुणा—आचार्येण स्वार्थाय—प्रयोजनाय मुण्डीकृतं—दीक्षां नीतम्। कथम्भूतेन गुरुणा ? तादृग्वंशजतद्गुणेन—तादृग्शिष्यवंशजातेन तद्गुणेन—शिष्यसदृशगुणेन। किंविशिष्टा जनाः ? विख्यात गुणान्वया अपि—प्रसिद्धगुणवंशजाता अपि। अकुलीनाः—कुलीनं पूजयति तदा पूजयन्तु, (किन्तु) कुलीना अपि अकुलीनं पूजयन्ति, इतिमोह प्राबल्यम्। पुनः किंविनिष्टाः ? लग्नोग्रगच्छग्रहाः—चेतसि निविष्टो यः उग्रगच्छप्रतिबन्धः तद् युक्ता इत्यर्थः। द्वारम् ॥९-१३॥

'गुणद्वेषधी' इतिद्वारं निपेधयितुमाह—

व्याख्या—दुष्प्राप्या० ॥ गुरुकर्मसञ्चयवतां—गरिष्टसंसारबन्धहेतुकर्मयुक्तानां प्राणिनां सद्धर्मबुद्धिर्दुष्प्राप्या, कोऽर्थः ? दुःखेन प्राप्यते तस्यां सद्धर्मबुद्धौ जातायामपि उत्पन्नायामपि शुभगुरुर्दुर्लभः यो गुरुरिष्टतरं किञ्चिदुपदिशति। सोऽपि शुभगुरुः पुण्येन यदि प्राप्यते तथापि अमी जनाः स्वहितं कर्तुं नालं—आत्मनो हितं कर्तुं न समर्थः। किं विशिष्टा जनाः ? गच्छस्थितिव्याहताः—'युष्मत्कुलादतोऽयं गच्छस्तत एनं गच्छं त्यक्त्वा भवद्भिर्नान्यपार्श्वे श्रवण—सम्यक्त्वव्रतप्रतिपत्त्यादिकं विधेयम्' इति गृहस्थस्य यतिविहिता व्यवस्था, तया गच्छस्थित्या व्याहताः—वशीकृता इत्यर्थः, अतो हेतोः किं ब्रूमः—किं भणामः ? इह—संसारे, किम् आश्रयेमहि—निषेवेमहि ? किम् आराध्येमहि—कस्याराधनां कुर्मः ? किं वा कुर्महे—विदध्मः, इति दशमं द्वारम् ॥ १४ ॥

एतेन प्रव्रज्याऽपि कुलीनस्यैव योग्येति प्रतिपादयन्नाह—

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—'क्षुत्क्षामः' किलेति संभावने कोऽपि रङ्कशिशुकः—अज्ञातनामा क्षुत्क्षाममन्—बुभुक्षादुर्बलः सन् क्वचिदनिर्दिष्टनाम्नि चैत्ये—जिनगृहे प्रव्रज्य—दीक्षां गृहीत्वा कञ्चनं श्रावकं पक्षं कृत्वा तदाचार्यकं प्राप्तः—सूरिपदं गतः सन्, कथम्भूतः ?

अक्षतकलिः अखण्डितकलह चित्रम्-आश्चर्य-चैत्यगृहे गृहीयति गृह इव आचरति। निजे गृहे कुटम्बीयति-कुटुम्ब इवाचरति। स्वं-आत्मानं शक्रीयति-शक्रमिवाचरति बुधान्-पण्डितान् बालिशीयति-मूर्खानिवाचरति। विश्वं-जगत् वराकीयति-रङ्कमिवाचरति, अतो मूर्खबहुलं जगत्, यतः कुलशीलादिकं न विचारयति किञ्चित् मोहनोच्चाटनाद्यद्भुतमवलोक्य दुष्टमपि यतिं देववत् पूजयन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अस्मिन्नेवार्थे-अपरमपि वृत्तमाह—

यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च ॥ १६ ॥

व्याख्या—यैर्जातो० ॥ तैरेव अधमाधमैः-अत्यधमैः यतिभिः अयं जनो-लोक बलात् हठात् वाह्यते-यत्र तत्र नीयते अतः हा! इति कष्टे इदं जगत् नीराजकं-राजशून्यं, राजा चेद् भवति तदा एतदनुचितं न भवति-इत्यर्थः। तैः कैः? यैः यतिभिरयं लोको न जातः-नोत्पादितः योगक्षेमादिसंपादनेन, यैर्न च वर्द्धितः-शरीरपोषणं न प्रापितः, यैर्न च क्रीतः-अन्यस्मान्मूल्यदानेन न गृहीतः, न च अधमर्णेन-उद्धारादिप्रयोगेण गृहीतः, न च प्राक्-पूर्वं दृष्टः-अवलोकितः, न च बान्धवः पितृव्यभ्रातृसम्बन्धवान्, न च प्रेयान् वल्लभतरः, न च प्रीणितः-तोषितः। एतावता ये यतयः न दृष्टा, न श्रुताः, न च संबन्धिनः, तैर्दुष्टैर्यतिभिः अयं जनो लोकः बलाद् वाह्यते। किंवत्? नस्योत पशुवत् यथा नस्यितः पशुर्यत्र तत्र नीयते इत्यर्थः। चकारः सर्वसमुच्चयार्थः ॥ १६ ॥

कुपथावस्थितजडजनानवलोक्य प्रकरणकारः प्राह—

किं दिग्मोहमिताः किमन्धबधिराः किं योगचूर्णीकृताः ॥ १७ ॥

व्याख्या—'किं दिग्मोह०' यद् यस्माद्धेतोः अमी जडाः-मूर्खाः जनाः कुपथात्-कुमार्गात् व्यावृत्तिम्-अपसरणं न दधते-न कुर्वते तस्माद्धेतोः एते जनाः-लोकाः किं दिग्मोहम् इताः पूर्वादिदिक्षु पश्चिमादिविभ्रमः दिग्मोहः तं प्राप्ताः?। किं अन्धबहिराः जाताः? अन्धाः-नेत्रहीनाः। बधिराः-कर्णहीनाः। किं वा योगचूर्णीकृताः?-मस्तकादिषु चूर्णक्षेपेण वशीकृताः। किं वा दैवोपहताः? दैवेन-विधिना उपहताः-विभ्रंशं प्रापिताः। 'अंगे'ति संबोधने। किं वा ठगिताः?-स्वायत्तीकृताः। किं वा ग्रहावेशिता?-भूतादिशरीराधिष्ठानाः। न केवलं कुपथप्रवृत्ताः एव संति किन्तु एतद् कृते, कोऽर्थः? जिनमार्गकृते जिनमार्गनिमित्तं अभ्यसूयन्ति च-ईर्षां कुर्वन्ति च।

किं कृत्वा ? श्रुतस्य मूर्ध्नि- शास्त्रमस्तके पदं-चरणं कृत्वा-विधायेत्यर्थः किंविशिष्टा अमी ? दृष्टोरुदोषा अपि-साक्षादवलोकितकुपथदोषा अपि अदृष्टदोषा हि विवेकिनोऽपि कुपथान्न निवर्तितुं समीहन्ते किं पुनः अन्येऽपि दृष्टदोषाः ते मूर्खा अपि कुपथान्निवर्तन्त एवेति श्लोकार्थः ॥ १७ ॥

सिद्धांते हि रजन्यां जिनस्नात्रं पापपंके निमज्जनाय प्रवदंति इत्यत आह—

इष्टावाप्ति-तुष्ट-विटनटभटचेटकपेटकाकुलं ॥ १८ ॥

व्याख्या—'इष्टावाप्ति०' जिन मज्जनं-जिनस्नानं अविधिना-सिद्धानोक्तविधिवैपरीत्येन मूढजनेन विहितः सन् अघपङ्के-पापकर्दमे निमज्जनमेव जनयति, कोऽर्थः ? सिद्धान्तोक्तप्रकारेण यदि देवस्नात्रं न विधीयते तदा स्नात्रादपि नरकपतनमेव भवतीत्यर्थः। कथभूतं स्नानम् ? इष्टा वाप्ति तुष्टविटनट-भटचेटक-पेटकाकुलम्, इष्टायाः-प्रियायाः स्नात्रदर्शन व्याजेनागताया अवाप्तिः-मिलनं, तया तुष्टाः विटाः 'निःशङ्कमत्राद्यनः सुरतलीलाप्रवर्तिष्यते' इति धिया मुदिता विटाः-वेश्यापतयः, नटाः-नर्तकाः, भटाः-शास्त्रादिकलाजीविनः, चेटकाः-मासादि नियमित[वृत्ति]ग्राहिणः, एतेषां पेटकः-समूहः, तेन आकुलं-क्षुभितम्, पुनः कथम्भूतं स्नात्रं ? निधुवनविधि निबद्ध दोहद नरनारी निकरसंकुलं-निधुवनं-सुरतं तदर्थं निबद्धो दोहदः-अभिलाषो यैस्तैर्नरनारीनिकुरैः-समूहैः संकुर्णं-व्याप्तं। कथंभूतं स्नानं ? रागद्वेषमत्सरेर्षाघनं-कस्यचित् परवर्णिनीं प्रति रागः-स्नेहः, स्वप्रेयसी मन्येन सह संगच्छमानां पश्यतस्तज्जिघांसया द्वेषः, मत्सरश्च-स्ववल्लाभामन्येन सह लपन्तीमविलोकयतः पुरुषस्य, असहिष्णुता-ईर्षा, ताभिर्घनं-सान्द्रम्, एतावता सकलविकारसामग्री परिपूरितमूर्खजनवि हित-स्नानादपि नरके पतनमेव भवीत्यर्थः ॥ १८ ॥

न केवलं स्नात्रमेव नरकजनकं किंतु अविधि कृतं व्रताद्यपीत्याह—

जिनमतविमुख-विदित-महिताय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—'जिनमत०' केवलं जिनमत-विमुखविहितं-जिनशास्त्रविपरीतकृतं मज्जनमेव 'अहिताय' संसाराय न भवति किं तर्हि ? (किंतु) तपश्चरित्रदानाद्यपि अनशनादि सर्वविरति अपि शिवफलं-मुक्तिरूपफलं न जनयति। एतावता जिनशास्त्रविपरीत कृतं सर्वमेव निष्फलमेवेति श्लोकार्थः। हि-यतः कारणात् अविधिविधि क्रमात् सिद्धान्तानुक्तोक्तप्रकारेण, सिद्धान्ते यन्नोक्तं तेन प्रकारेण जिनाज्ञाऽपि-अर्हदागमोक्ता-

नुष्ठानमपि अशुभशुभाय–अकल्याणसंपत्तये जायते । ‘ किं ’मित्याक्षेपे वाक्यभेदे वा, ‘ पुन ’रिति हेतुप्रकारेण अहितहेतुः–संसारबन्धनहेतुः विडम्बनैव–लोकोपहासास्पदमेव न प्रसार्य्यते न विस्तार्यते ? अपि तु विस्तार्यत एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अन्यदप्याह—

जिन-गृह–जैनबिम्ब-जिनपूजन-जिनयात्रादि विधिकृतं ॥ २० ॥

व्याख्या—‘ जिनगृह ’० इह–प्रवचने एतदपि सर्वं स्फुटं–प्रगटं व्यक्तमेव अनभिमतकारि भवति–अनिष्टविधायि भवेत् ॥ कस्मादित्याह—कुमत–कुगुरु–कुग्राह-कुबोध–कुदेशनांशतः, अस्यार्थः–कुत्सितं मतं कुमतं, कुत्सितो गुरुः कुगुरुः, कुग्राहः–सिद्धान्तग्राह्यस्वमतिकल्पितासत्पदार्थसमर्थनानुष्ठाणविषयो मानसोऽभिनिवेशः, जिन-शास्त्रस्याज्ञानादन्यथा परिच्छेदः कुबोधः, सिद्धान्ताभिहितार्थानां विन्यासेन प्ररूपणा भणिता कुदेशना, तासाम् अंशतः–लेशतः । एतत् किं ? जिनगृहं–अर्हद्भवनं, जैनबिंबं–भागवती प्रतिमा, जिनपूजनं–भगवत्पूजा, जिनयात्रादि–भगवत्कल्याणकाष्टाह्निकादि, एतत् सर्वं विधिकृतमपि–जिनोक्तप्रकारेण निष्पादितमपि दानतपोव्रतादि–दानं तपसी पूर्वं व्याख्यातम्, व्रतादि–स्थूलप्राणातिपातविरमणादि, गुरुभक्तिः–आचार्यशुश्रूषा, श्रुतपठनादि–सिद्धान्ताध्ययनं । एतत् सर्वमपि उक्तहेतोः अनिष्ट विधायि भवेत् आदृतमपि–सबहुमानमपि । किमिव ? वरभोजनमिव यथावसरं हृद्यं भोजनं विषलवनिक्षेपतः–गरलकणनिक्षेपात् अनभिमतकारि भवति–अनिष्टविधायि भवति, एतावता कुमतादि संसर्गाज्जिनपूजनादिकमपि शुभदायि न भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

सकपटयतिं वर्णयतुमाह—

आक्रष्टुं मुग्ध–मीमान् बडिशपिशितवद् बिम्बमादर्श्य जैनं ॥ २१ ॥

व्याख्या—‘ हा ’ इति कष्टे, अयं जनो–लोकः शठैः–धूर्तैर्यतिभिः वञ्च्यते–विप्रलभ्यते । किं विशिष्टः ? श्रद्धालुः–विवेकविकलः धर्मेच्छावान्, क इव ? शाकिन्यादिवशीकृत इव यथा शाकिन्यादिवशीकृतः केनचिद् वञ्च्यते ॥ कैः ? यात्रास्नात्राद्युपायैः, यात्रा–जिनयात्रा, स्नात्रं–जिनस्नानम्, इत्यादयः उपायाः–प्रकारास्तैः, न केवलं यात्राद्युपायैः, नमसितक–निशाजागरादिच्छलैश्च, नमसितकं–उपयाचितकं “ भवतामिदानीमीदृश उपद्रवः समुपस्थितस्तस्माद् भवद्भिस्तन्निवृत्तये जिनगोत्रशासनसुराणां

इयद् द्रव्यमेषणीय "मिति । निशाजागरादिच्छलैः—रात्रिजागरणादिव्याजैः किं कृत्वा वञ्च्यते ? जैनबिम्बं आदर्श्य दर्शयित्वा, कोऽर्थः ? जिनप्रतिमां दर्शयित्वा । न केवलं जिनप्रतिमां दर्शयित्वा तन्नाम्ना—जिननामधेयेन स्वेष्टसिद्ध्यै—आत्माभिमतनिष्पत्तये गृहान् कारयित्वा, कथम्भूतान् गृहान् ? रम्यरूपान्—मनोहरान् किंवत् दर्शयित्वा ? मुग्धमीनान् आक्रष्टुं वडिशपिशितवत्, यथा व्याधो बडिशे—मत्सवेधने पिशितं—मांसं विधाय मुग्धमीनान्—मुग्धान् मत्स्यान् आकर्षयति ? हेयोपायोदेयविचारशून्यतया धर्म्म-श्रद्धालवस्तएव मत्स्यास्तान् ॥ २१ ॥

सर्वत्रास्थगिताश्रवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः ॥ २२ ॥

व्याख्या—कष्टमिति खेदेन उद्धतधियः—'नास्त्यस्मत् समो जगति संप्रति कश्चने 'ति दर्पाध्मातबुद्धयः तुष्यन्ति—मोदन्ते, पुष्यन्ति—वर्द्धन्ते च, किं कृत्वा ? सन्मुनि-मूर्द्धसु स्थित्वा—मुनिमस्तकेषु स्थितिं विधाय, किं विशिष्टाः ? अन्त्याश्चर्यराजाश्रिताः—दशमाश्चर्यनृपानुगताः, यथा नीचा अपि केचन राजादेरवष्टम्भेन महतामपि मूर्द्धानमा-रुह्य पुष्यति । एवमेतेपि दशमाश्चर्यराजाश्रिता महामुनीन् परिभूय पुष्यन्तीत्यर्थः ।

पुनः किं विशिष्टाः ? सर्वाकृत्यकृतोऽपि—कोऽर्थः ? लोकलोकोत्तरविरुद्धा—ब्रह्म-सेवनपुष्पफलाद्युपभोगाद्यसदाचारकारिणोऽपि सर्वमकृत्यं कुर्वन्तीत्यर्थः । सर्वत्रास्थ-गिताश्रवाः लोकसमक्षम् अनिरुद्धपञ्चाश्रवाः । पुनः किम्भूताः ? स्वविषयव्यासक्त-सर्वेन्द्रियाः, स्वविषयेषु—स्पर्शादिषु व्यासक्तानि—विशेषणलग्नानि इन्द्रियाणि—त्वगा-दीनि येषां ते । पुनः किम्भूताः ? वल्गद्गौरवचण्डदण्डतुरगाः, वल्गन्तः—यदृच्छया प्रसरंतः गौरवैः चंडाः—उत्कटाः, दंडाः—अकुशलमनोवाक्काया एव तुरगा येषां ते । पुनः किम्भूताः ? पुष्यत् कषायोरगाः सुपुष्टक्रोधसर्प्पाः । एतावता पंचाश्रवविरमणं-पञ्चेन्द्रियनिग्रहं—दण्डत्रयविरतिं—कषायचतुष्टयजयं—लक्षणसप्तदशविधसंयमविहीना अपि ते सत्साधूनतिक्रामन्ति, इति श्लोकार्थः ॥

इदानीं दुष्टयतिभ्यो गृहस्था एव श्रेष्ठा इति दर्शयितुमाह—

सर्वारम्भ—परिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकाशनाद्येकदा ॥ २३ ॥

व्याख्या—'सर्वारम्भ०' गृहिणोऽपि हृदि तीव्रानुतापो भवेत् । निष्ठुर-पश्चात्तापो जायते । किं विशिष्टस्य गृहिणः ? न रक्षतः—न पालयतः, किम् ? एका-

शनादि–एकभक्तादि, किं कृत्वा ? प्रत्याख्याय–नियम्य । क ? एकदा–अष्टम्यादि तिथिषु । यदि कश्चिद् गृहस्थः अष्टम्यादितिथिषु एकभक्तादेर्नियमं गृह्णाति पश्चात् तं–खण्डयति तस्य चेतसि महान् पश्चात्तापो भवतीत्यर्थः। किं विशिष्टस्य गृहिणः ? सर्वारम्भस्य परिग्रहस्य–सकलपापव्यापारतत्परस्य सदा–सर्वदा, ये पुनः त्रिधा–मनोवाक्कायारूपेण त्रिविधं–कृतकारितानुमतिलक्षणं पापं षट् कृत्वा–षड्वारान् प्रतिदिनं–प्रतिवासरं प्रोच्यापि उक्त्वाऽपि भञ्जन्ति–खण्डयन्ति तेषाम् असाधूनां क तपः ? तपो नास्ति, सत्यवचनं च नास्त्येव । ज्ञानिता–सिद्धान्तपरिच्छेत्तृत्वं च नास्ति । व्रतं दीक्षा च नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

देवार्थ–व्ययतो यथारुचिकृते सर्वर्तुरम्ये मठे ॥ २४ ॥

व्याख्या—'देवार्थ०' अहो ! इति आश्चर्यं सितपटाः–श्वेताम्बराः कष्टं व्रतं चरन्ति–दुष्करं चारित्रं अनुतिष्ठन्ति । किंविशिष्टा ? साधुव्याजविटाः–यतिव्याजेन धूर्त्ताः । पुनः कथम्भूताः ? यथा रुचिकृते–स्वमनोभिलाषरूपे मठे नित्यस्थाः सर्वदा मनोरमजिनगृहनिवासिनः । किं कुर्वन्तः ? देवार्थं व्ययतः–तद्देवद्रव्यं व्ययं कुर्वन्तः । कथम्भूते मठे ? सर्वर्त्तुरम्ये–सकलवसंतादिऋतुमनोहरे । पुनः कथम्भूताः ? शुचिपट्टतूलशयनाः–निर्मलपट्टवस्त्रयुत् तुलशयनाः कोमलशय्याशायिन इत्यर्थः । पुनः कथम्भूताः ? सद्गण्डिकाद्यासनाः–कोमलगण्डिकाद्यासनभाजः । पुनः कथम्भूताः ? सारम्भाः आरंभसहिताः । पुनः कथम्भूताः ? सपरिग्रहाः–धनधान्यादिभाण्डसंग्रहपरायणाः, सविषयाः–विषयासक्तचेतसः सेर्ष्याः–सक्रोधाः । सकाङ्क्षाः सम्भोगविलासोत्कण्ठिताः, सदा–सर्वदा ॥ २४ ॥

इत्याद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिं ॥ २५ ॥

व्याख्या—'इत्याद्युद्धत०' येषां मिथ्योक्त्या–मिथ्यात्ववचनेन सुदृशोऽपि सम्यग्ज्ञाना अपि मनो बिभ्रति–धारयति । कथम्भूतं मन ? सन्देहदोलाचलं इदं समाचीनं इदं वा इति य संदेहः स एव दोला–हिन्डोलकस्तेन चञ्चलं, ननु निश्चितं सर्वथा जिनपथप्रत्यर्थिनः, कोऽर्थः ? अर्हत्पथशत्रुभूताः लोकाः–जनाः स्थितिम्–अनाचाररूपां श्रुत्वा इत्याद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः, कोऽर्थः ? उक्तप्रकारेण सहास्यवचना भवेयुः–'अहो जैनाः अन्यथावादिनः अन्यथाकारिणः, अस्माकमेव दर्शनं श्रेयः, इत्यादि वचनसन्दर्भेण, अतो हेतोः अभिमुखा अपि जनाः श्रुतपथात्–जिनसिद्धान्त-

मार्गाद् वैमुख्यं–विमुखतां आतन्वते–विस्तारयंति । मिथ्यावादिनां मिथ्यावचनेन अभिमुखा अपि जना जिनमार्गाद् विमुखा भवन्ति, इति श्लोकार्थः ॥ २५ ॥

सर्वैरुत्कटकालकूटपटलैः सर्वैरपुण्योच्चयैः,

व्याख्या—'सर्वैरुत्कट०' ॥ २६ ॥ 'ततः' इति पश्चात् श्लोकस्यात्र वर्त्तते । ततो हेतोः–पश्चादुक्त हेतोः–अमुं–दुर्मार्गम् आसेदुषां–प्रस्थितानां मानसं नूनं निश्चितं एतैः क्रूरमकारि–क्रूरं कृतम् एतैः कैः ? सर्वैः उत्कटकालकूटपटलैः अत्युग्रविषसमूहैः न केवलं उत्कटकालकूटपटलैः सर्वैः अपुण्योच्चयैः–सकलपापराशिभिः, न केवलमेतैः सर्वैर्व्यालकुलैश्च–अशेषसर्पसमूहैः, न केवलमेतैः समस्तविधुराधिव्याधिदुष्टग्रहैः सकलदुःखमनोव्यथामङ्गलादिपापग्रहैः । कथम्भूतानां ? दौरात्म्येन–दुष्टाशयत्वेन जिनपथं निजघ्नुषाम्–उच्छेत्तॄणां, पुनः कथम्भूतानाम् ? वचनेन इति ऊचुषाम्–अभिदधुषाम् ॥ २६ ॥

अतः—

दुर्भेद्यस्फुरदुग्रकुग्रहतमः स्तोमास्तधी चक्षुषां ॥ २७ ॥

व्याख्या—'दुर्भेद्यस्फुरदुग्र०' अतो हेतोः सदा–सर्वदा मिथ्याचारवतां–मोक्षमार्गविपरीताचारयुक्तानां वचांसि सकर्णः–सश्रवणः कथं कर्णे कुरुते ? कथं श्रवणे धारयति ? अपि तु न कथमपि इत्यर्थः । कथम्भूतानां मिथ्याचारवतां ? स्वयं नष्टानाम् पुनः कथम्भूतानाम् ? अन्यनाशनकृते–परनाशाय बद्धोद्यमानां स्वयम् नष्टा परानपि नाशयन्तीत्यर्थः । पुनः कथंभूतानां ? 'महामोहाद्'घन–प्रचुरतरा–विवेकात् 'अहं मानिनां'–अहमेव, नान्यः इति मानिनां । पुनः कथम्भूतानां ? सिद्धान्तद्विषतां–जिनशास्त्रवैरिणाम् । पुनः कथम्भूतानां ? दुर्भेद्यस्फुरदुग्रकुग्रहतमःस्तोमास्तधीचक्षुषां–दुर्भेद्याः दुच्छेद्या स्फुरंतो–मनसि जाग्रद्रूपाः ये उग्रकुग्रहाः–जिनगृहनिवासादयस्त एव तमःस्तोमाः–अन्धकारपटलानि, तैरस्तं प्रापितं धीरेव चक्षुर्येषां तेषाम् ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद् वितथं यदप्यनुचितं यल्लोक–लोकोत्तरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—'यत् किञ्चित्०' यत् कुधियः–कुबुद्धयः तत्तद्धर्म इति ब्रुवन्ति–अयमेव धर्म इति कथयन्ति तत् दुरन्त–दशमाश्चर्यस्य विस्फूर्जितं–विजृम्भितं, तत्, किं- यत् किञ्चित् वितथं–अलीकं यदिति सामान्यतो निर्दिष्टं विशेषतोऽनिर्दिष्टनामा, यदप्यनुचितम्–अयोग्यं यल्लोकलोकोत्तरोत्तीर्णं–जिनमार्गाद् बहिर्भूतं जिनप्रवचनबाह्यं

जिनमार्गादतीतमित्यर्थः, यद्भविनां--देहिनां भवहेतुरेव येन संसारबन्धो भवतीत्यर्थः, यतः शास्त्रबाधाकरं—सिद्धान्तविरुद्धं न केवलं धर्म्म इति कथयन्ति। अर्हन्मतभ्रान्त्या लान्ति च, कोऽर्थः? जिनमार्गोऽयमिति मिथ्याज्ञानेन गृह्णन्ति च, कथम्भूतास्ते? मूढाः ॥ २८ ॥

साम्प्रतं मुग्ध जनान् प्रति स्वमतं मोक्षपथतया दिशत, सत्पथगामिनश्च धार्मिकान् स्ववचनाननुरोधित्वेनाज्ञतया अवजानानस्य कस्यचिद्यथा छन्दाचार्य ग्राम ण्योऽप्रस्तुत प्रशंसया स्वरूपमाह—

कष्टं नष्टदिशां नृणां यदिदृशां जात्यन्धवैदेशिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या—'कष्टं' दुःखमेतन्नश्चेतसि वर्त्तते, यत्किमित्याह—यदिति वाक्योपक्षेपे, यन्नृणामदृशां जात्यन्धवैदेशिकः कान्तारेऽभीप्सितपुराध्वानं प्रदिशतीति सम्बन्धः। तत्र 'नृणां' पुंसां नष्टदृशां—अलोचनत्वात् कान्तारपातेन दिङ्मूढत्वाच्च प्रभ्रष्टप्राचीप्रतीच्यादिककुप्विभागपरिच्छेदानां, अदृशां—काचकामलादिनां दृग्विकलानां, न तु जन्मान्धानां, जन्मान्धो जन्माभिव्याप्त्या लोचनरहितः। ननु सोऽपि तद्देशजात इतरेभ्यः श्रवणादिना विज्ञाय कथञ्चिदिष्टपुरपथं देक्ष्यतीति तत्रोक्तं "वैदेशिक" इति, विदेशे—योजनशतव्यवहिते देशान्तरे जातो वर्द्धितश्चेति वैदेशिकः। सहि तद्देशस्वरूपमात्रस्याप्यनभिज्ञत्वात्कथं प्रकृतमार्गं जानीयादपि। ततः कर्मधारयः। कान्तारे' जनमञ्चारशून्ये दुर्गवर्त्मनि 'प्रदिशति' प्रतिपादयति अभीप्सितपुराध्वानं—जिगमिषितनगरमार्गं, किलेति वार्त्तायां, उत्कन्धरः—उद्ग्रीवः कन्धरामुन्नमय्य भुजदण्डमुत्क्षिप्य कथयतीति—कष्टमेतत्। तुः पुनरर्थे, इदं वक्ष्यमाणं पुनः कष्टतरं—पूर्वस्मादपि कष्टान्महाकष्टं, यत् किमित्याह—'सोऽपि' प्रागुक्तो मार्गदेष्टा 'सुदृशो' निर्मलनयनानत एव 'सन्मार्गगान्' इष्टनगरसुगमपथप्रस्थितान् तद्विदः' सम्यक्सन्मार्गज्ञान् यत् हसति, सावज्ञमिति क्रियाविशेषणं, सावहेलं अज्ञानिव, यथा मार्गाभिज्ञा मार्गमुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तथैतेऽपि तेन। एवं प्रस्तुतमुपमानं योजयित्वा प्रस्तुतमुपमेयमिदानीं योज्यते, कष्टमेतत्—'यत् नृणां' सत्पथेच्छुपुरुषाणां नष्टदृशां—अतिमुग्धतया सत्पथकुपथविभागानभिज्ञानात्, अदृशां- सम्यग्ज्ञानदर्शनविकलानां जात्यन्धः— सिद्धान्तरहस्यलेशानभिज्ञः सर्वथा अगीतार्थः, सोऽपि गीतार्थसंवासादेः कथञ्चिन्मोक्षपथकथनप्रवीणः स्यात्त्राह—वैदेशिको गर्हिताचारत्वाद् गीतार्थमुनिपुङ्गवसङ्गमात्रवर्जितः एष चाधुनिकदुस्मद्धप्रवरो निशङ्कं निश्रेयसपथप्रत्यर्थिमार्गकथनदीक्षितोऽयं यथाछन्दशिरोमणिः कश्चिदा-

चार्यो मन्तव्यः। कान्तारे–भवमहाटव्यां प्रदिशति अभीप्सितपुराध्यानं–मुक्तिमार्गं उत्कन्धरो–दर्शिताहङ्कारविकारः, तथा च सोऽगीतार्थः उत्सूत्रभाषको मिथ्यादृष्टिः कथञ्चिदपि सत्पथं मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्येन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रत्येति इति कष्टं, एतत्कष्टतरं त्विति पूर्ववत्, सोऽपि प्रागभिहितो यथाच्छन्दाचार्यः सुदृशः–सम्यग्ज्ञानदर्शनयुजः सन्मार्गगान् ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमुक्तिपथप्रवृत्तान् तद्विदो–मुक्तिमार्गविज्ञान् धार्मिकान् सुविहितसाधून् यत् हसति सावज्ञमज्ञानिव, यथा–कममी अगीतार्था मूर्खशिरोमणयः सिद्धान्तरहस्यं जानन्ति ?, अहमेव सकलश्रुतपारावारपारदृश्वा, ततो यमहं ब्रवीमि स मुक्तिमार्ग इति। किमित्येवमुपहसतीत्यत आह–तन्महाकष्टमित्युपमानोपमेययोस्तुल्यतया योजना। अत्र च मुग्धजनपुरतो निरङ्कुशं स्वकल्पितं चैत्यवासादिकमुत्सूत्रपथं प्रथयद्विधिविषयपारतन्त्र्यप्ररूपणानिपुणान्, सुगुरुसम्प्रदायानुवर्तिनः सुविहितानसूययोपहसन् सम्प्रति वर्तमानः कुसङ्घाचार्यवर्गोऽनया भङ्ग्या कविना प्रतिपादित इति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रतं श्रुतपथावज्ञाद्वारमुपसञ्जिहीर्षुः शुद्धजिनमार्गस्य दुष्टोपचितसमुदितकारणकलापेन सम्प्रति दुर्लभत्वं प्रतिपादयन्नाह—

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमयह्रसद्भव्यभावानुभावा ॥ ३० ॥

व्याख्या—'सैषा हुण्डा'॥ एवं अमुना प्रकारेण अनुकूलं–प्रतिसमयं दुष्टेषु–क्रूरेषु पुष्टेषु सत्सु जैनमार्गो दुर्लभः–अर्हत्पथो दुष्प्राप्यः, यदा तु क्रूराः पुष्टास्तदा जैनमार्गो दुर्लभो जात इत्यर्थः। एवं कथं ? सैषा हुण्डानाम्नी अवसर्प्पिणी–कालविशेषः। कथम्भूता– अवसर्प्पिणी ? अनुसमयं ह्रसद्भव्यभावानुभावा, अनुसमयं–प्रतिसमयं प्रतिक्षणं ह्रसन्–हीयमानः भव्यजनानां शुभभावस्यानुभावः–प्रभावो यस्यां सा। अयं त्रिंशत् उग्रग्रहश्च।

जिनसिद्धान्तोक्ताष्टाशीतिग्रहमध्यात् त्रिंशतः पूरणो भस्मराशिः, कथम्भूतो भस्मराशिः ? ख–ख–नखमितिवर्षस्थितिः "पश्चानुपूर्व्या अंकरचना ज्ञातव्या"। खं–शून्यं, तत्पश्चात् पुनः खं–शून्यं, तत् पश्चान्नखं–विंशतेरंकः एतावत् (२०००) स्थितिः। अन्त्यदशममाश्चर्यं च असंयतपूजाऽनाचारप्रतिपादकमाश्चर्यं च तत्समा दुष्षमा च तैरेव–सर्प्पिणीभस्मराशिदशमाश्चर्यैः समा तत्समा दुषमा दुःखकारिणी, तस्यै जिनमतहतये–जिनमार्गोच्छेदनिमित्तं यद्येते तुष्टास्तदा जैनमार्गो दुर्लभ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवं तावदष्टादशवृत्तैः प्रबन्धेन लिङ्गिनां श्रुतपथावज्ञा प्रतिपादिता। संप्रति 'गुणद्वेषधी'रिति द्वारं निराकुर्वंस्तेषां गुणद्वेषं दर्शयन्नाह—

सम्यग्मार्गपुषः प्रशान्तवपुषः प्रीत्योल्लसच्चक्षुषः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'सम्यग्मार्गपुषः०' ॥ उद्यद्रुषः–प्रचण्डक्रोधाः सत्साधून् सुविहितयतीन् न क्षाम्यन्ति–न सहन्ते। किंविशिष्टान् सत्साधून्? सम्यङ्मार्गपुषः–ज्ञानादित्रयस्य मोक्षपथो[स्य]विस्तारकान् सम्यग्ज्ञान–सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्रपथ, पोषकान्। पुनः किंविशिष्टान्? प्रशान्तवपुषः–रागद्वेषादिरहितशरीरयुक्तान्। पुनः किंविशिष्टान्? प्रीत्योल्लसच्चक्षुषः–प्रसन्नोत्फल्लनयनान् सर्वत्र सदयावलोकिन इत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टान्? श्रामण्यर्द्धिमुपेयुषः–पञ्चमहाव्रतसम्पत्तिं आसेदुषः–पञ्चमहाव्रतानि–प्राणातिपात–मृषावादा–दत्तादान–मैथुन–परिग्रहाणां त्यागस्तस्य सम्पत्तिं उपगतानि–इत्यर्थः। पुनः किम्भूतान्? स्मयमुषः–निरहङ्कारिणः। पुनः किम्भूतान्? कन्दर्पकक्षप्लुषः–मन्मथशुष्कतृणदाहिनः। पुनः किम्भूतान्? सिद्धान्ताध्वनि तस्थुषः–जिनोक्तसम्यग्मार्गे स्थितान् तत्परानित्यर्थः। पुनः किम्भूतान्? शमजुषः–शान्तियुक्तान् पुनः किम्भूतान्? सत्पूज्यतां जग्मुषः–विवेकजनाराध्यत्वं प्रापितान्। एवं गुणविशिष्टानपि सद्यतीन् उद्यद्रुषः–प्रबलकोपाः न क्षाम्यति– न सहन्ते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

देवीयत्युरुदोषिणः क्षतमहादोषानदेवीयति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'देवीयत्यु०' 'अहो' इत्याश्चर्यं जनो–लोकः अगुणाग्रण्यं अगुणभण्डारं स्वं–आत्मानं कृतार्थीयति–कृतार्थमिवाचरति–आत्मानं विहितसकल–कर्त्तव्यमिवाचरति, कथम्भूतो जनः? मिथ्यात्वग्रहिलः–प्रबलमिथ्यात्वगम्भीरः प्रचण्डमिथ्यात्वाभिनिवेशग्रहग्रहीतः। पुनः किं करोति? उरुदोषिणः–प्रचुरापराधान् देवीयति–देवानिवाचरति, ये प्रबलदोषास्तान्। देवान्–जिनसदृशान् मन्यत इत्यर्थः। पुनः किं करोति? क्षतमहादोषान् प्रणष्टप्रचुरापराधान् अदेवीयति–अदेवान् इवाचरत्तिः। पुनः किं करोति? मूर्खमुख्यनिवहं–महामूर्खसमूहं सर्वज्ञीयति–सर्वज्ञमिवाचरति। पुनः किं करोति? तत्त्वज्ञम् अज्ञीयति–षड्दर्शनवेत्तारं मूर्खमिवाचरति। पुनः किं करोति? जैनमार्गम् उन्मार्गीयति–कुमार्गमिवाचरति। पुनः किं करोति? अपथं–अमार्गं सम्यक्–पथीयति–सन्मार्गमिवाचरति। एतावता सर्वमेव विपरीताचरणमाचरतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ये केचन दुष्टयतिनो मुक्तमिवात्मानं मन्यन्ते तान् दुषयितुमाह—

सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत ॥ ३३ ॥

व्याख्या—'सङ्घत्राकृ०' जन्तुहरिणव्रातस्य कुतो मोक्षः? जन्तव एव

हरिणाः, तेषां समूहस्य कुतो मोक्षः–कुतो निर्वाणम् ? कथम्भूतस्य जन्तु हरिणव्रातस्य ? सङ्घव्याघ्रवशस्य उत्सूत्र प्रज्ञापकः स्वच्छन्दचारी विषयलोलुपः साधु–साध्वी–श्रावक-श्राविकासमवायो भूयानिह सङ्घ उच्यते, स एव व्याघ्रः, यथा व्याघ्रा यत्तस्य हरिण-व्रातस्य मोक्षः च्छुटनं न भवति तथैवेति। पुनः कथम्भूतस्य ? सङ्घत्रा–श्रावकलोकेन कृतचैत्यकूटपतितस्य भक्त्या तदायत्ती कृतानि जिनगृहाणि, एतान्येव कूटाः मृगबंधन-यन्त्रविशेषास्तेषु प्रतिबद्धस्य। पुनः किं विशिष्टस्य ? अन्तस्तरां चेतोमर्मणि ताम्यतः खिद्यमानस्य मृगोऽपि बद्धः सन् चेतोमर्मण्यतितरां खिद्यति पुनः किं विशिष्टस्य ? सन्मुद्रादृढपाशबन्धनवतः सन्–तस्य सङ्घस्य मुद्रा चतुर्दश्यादिपर्वतिथयस्ता एव दृढ-पाशाः, तैर्बन्धनं, तद्युक्तस्य। अत एव स्पन्दितुं–चलितुं अपि न शक्तस्य–न समर्थस्य। पुनः कथम्भूतस्य मुक्त्यै–मोक्षार्थं कल्पितदानशीलतपसः–विहितदेशचारित्रानशना-देरपि। एतत्क्रमस्थायिनः–एतस्य–सङ्घस्य क्रमो–रात्रिस्नात्रादिका परिपाटी तद्वर्तिनः। एतावद्–बन्धनयुक्तस्य तत्रापि संघसार्दूलवशस्य जन्तु–हरिणव्रातस्य कुतो मोक्ष ? न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इत्थं मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चित् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'इत्थं मिथ्या०' ॥ इह–लोके इदं अनुचितं–अयोग्यं कश्चिन्मा-ज्ञासीत्। इदं जिनवल्लभे–नोक्तं संघपट्टाख्यं अनुचिमिति मा कश्चिन्मस्त कथा ? इत्थं–पूर्वोक्तप्रकारेण मिथ्यापथकथनया–दिगम्बरोक्तमिथ्यापथप्रकथनया। कथम्भूतया ? तथ्ययापि–सत्ययापि। अथानन्तरं कश्चिन् मा कुपत्–मा क्रोधं कार्षीत्। अथ यद्येवं मिथ्यापथकथनेन परेषां क्रोधशङ्का तदासौ न कथनीय एवेत्याह–'यस्मा'दिति यस्मात् कारणादेतत् किमपि दिग्मात्रं कृपया–अनुकंपया कल्पितं–सकृत–जल्पितं च–अतिशयेनोक्तं च। किं कृत्वा ? नॄन्–मानवान् प्रेक्ष्य–अवलोक्य। कथम्भूतान् नॄन् ? जैनभ्रान्त्या–'अयं जैनमार्गः' इति मिथ्याज्ञानेन कुपथपतितान्–कुमार्गप्रस्थितान् कस्मै कल्पितं ? तत्प्रमोहापोहाय–तेषां नॄणां प्रचण्डमोहनाशाय। यथाऽमी मूढाः कुपथः स्वरूपं विज्ञाय तत्परित्यागेन सत्पथं गृहीत्वा संसारसागरं तरिष्यन्तीति कृपया जल्पितमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

किमपि दिग्मात्रं जल्पितम् ? इति कथमुक्तं यावता सकलमेव कथं नोक्त—मिति–अतः आह—

प्रोद्भूतेऽनन्तकालात् कलिमलनिलये नाम नेपथ्यतोऽर्हन् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—प्रोद्भूत० यः कश्चित् नृषु-मनुष्येषु कुबोधं निरसिसिषु सन् कुदेशनोत्पादितं दूरीकर्तुमनाः सन् दुरध्वे-कुमार्गे दोषसंख्यां विवक्षेत्-'कुमार्गे एतावत्-संख्या को दोषः' इति वक्तुमिच्छेत् स पुमान् अम्भोऽम्भोधेः प्रमित्सेत्-प्रमातुमिच्छेत्। वेति पक्षान्तरं सकलगगनोल्लङ्घनं विधित्सेत्-सकलाकाशस्यातिक्रमणमिच्छेत्। योऽम्भोऽम्भोधेरवगाहते, यश्च समस्तगनस्योल्लघनं करोति सकुमार्गे दोषसंख्यां वदति, अतो दिग्मात्रं जल्पितमित्युक्तं, तस्मात् कुबोधं निरसिसिषुः कारुण्यात्-'माऽमी संसारसागरे ब्रुडन्तु' इति कृपातः कथम्भूते दुरध्वे? अनन्तकालात् प्रोद्भूते-अनन्तवर्षमासादिहेतुना संजाते, कलिमलनिलये-दुःखमहापातकनिवासे। पुनः कथम्भूते? नाम नेपथ्यतः-नाममात्राचरणतः अर्हन्मार्गभ्रान्ति-तात्त्विकजिनमार्गसादृश्यं दधाने-बिभ्राणे। पुनः किम्भूते दुरध्वे? तत्त्वतः-परमार्थतः तदभिमरे-अर्हन्मार्गघातके यथा अभिमराः प्रच्छन्नघातकाः स्ववेषेण राजदिकं हन्तुमशक्नुवन्तो वेषपरिवर्त्तनं कृत्वा राजादिकं निघ्नन्ती तथा-एतेऽपि गृहस्थवेषेणार्हन्मार्गोच्छेदं कर्त्तुमपारयंतो यति-वेषेणोच्छेदयन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

न सावद्याम्नाया न बकुश-कुशीलोचितयति, ॥ ३६ ॥

व्याख्या—तथा 'न सावद्या०' इह-प्रवचने एते यतय-साधवः अद्यापि दुःषमा कालेऽपि सूत्ररतयः स्युः-सिद्धान्ताध्ययनाध्यापन-व्याख्यान-श्रवणपरायणाः भवेयुः। किम्भूता? येन सावद्याम्नायाः न सपापसंप्रदायाः। पुनः किम्भूताः? न बकुशकुशीलोचित यति-क्रियामुक्ताः बकुशं शबलमतिचारेण समलं प्रक्रमाच्चारित्रं, तथा कुत्सितं चरणं येषां, तेषामुचिता-योग्या[क्रिया]साधु-सामाचारी तया न युक्ता-न महिताः, कुत्सितयति क्रियारहिता इत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टाः? मदममताजीवनभयैः-न युक्ताः-जात्यादि मदममता-गृहस्थादिषु जीविकानिर्वाहस्तस्माद् भयं येषां ते तादृशा न। पुनः किं विशिष्टाः? न संक्लेशावेशा-न रौद्राध्यवसायोत्कर्षाः, पुनः किं भूता 'न कदभिनिवेशाः' न कुत्सितमानसा ग्रहवन्तः, पुनः कथं भूता? न कपटप्रियाः न माया-वल्लभाः, एतावता दुःषमाकालप्रभावाद् अन्यत्कर्त्तुमपारयंत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

संविग्नाः सोपदेशाः श्रुतनिकषविदः क्षेत्र-कालाद्यपेक्षा ॥ ३७ ॥

व्याख्या— 'संविग्नाः सो०' अस्मिन्-जिनशासने सत्साधवः-सुविहित-मुनयः वन्द्याः। किंविशिष्टाः सत्साधवः? संविग्नाः-निर्वाणेच्छवः। पुनः किंविशिष्टाः?

सोपदेशाः-धर्मोपदेशतत्पराः। पुनः किंविशिष्टाः? श्रुतनिकषविदः-शास्त्ररहस्य निपुणाः पुनः किम्भूताः क्षेत्रकालाद्यपेक्षानुष्ठानाः-देशकालानुसारेण विहारादिक्रियारम्भिणः। पुनः किंविशिष्टा? शुद्धमार्गप्रकटनपटवः-यथार्थश्रुतपथप्रकाशनदक्षाः यथार्थमेव शास्त्र-पथं प्रकाशयन्तीत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टाः? प्रास्तमिथ्याप्रवादाः-दूरीकृतमिथ्या शास्त्रोक्तयः। पुनः किम्भूताः? नियमशमदमेत्यादि-नियमो-द्रव्याद्यग्रहः, शमः-कषायनिग्रहः,-दम-इन्द्रियदमनं औचित्यं-सर्वत्र योग्यतानुसारेण विनयादि प्रयोक्तृत्वं, गाम्भीर्यं-अलक्षहर्षादिविकारत्वं, धैर्यं-विपत्सु अपि अविखिन्नत्वं चेतसोऽवैक्लव्यं, स्थैर्यं-विचार्य करणीयकारित्वं, औदार्यं-विनयादिनाऽध्यापनवितरणं, आर्यचर्या-सत्पुरुष-क्रमप्रवृत्तिता, विनयः-अभ्युत्थानादिना गुरुषु प्रतिपत्तिः, नयो-लोक लोकोत्तराविरुद्ध-वर्तित्वं, दया-दुःस्थितादिदर्शना[दा]र्न्त [करणत्वं] इति दाक्ष्यं-धर्मक्रियासु नालस्यं, दाक्षिण्यं--सरलचित्तता, ततो द्वन्द्वसमासः, एभिर्गुणैः पुण्याः पवित्राः। ईदृशाः साधवो वन्दनीया इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

सांप्रत प्रकरणकारः प्रकरणं समाप्नुवन्-इष्टदेवता-व्याजेनावसानमङ्गलं, स चायं चक्रबन्धेन स्वनामधेयमाविर्विभावयितुमाह—

विभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनासादं श्रुतोल्लङ्घने ॥ ३८ ॥

व्याख्या—अहं जिनं वन्दे-तीर्थङ्करं नमस्करोमि। किम्भूतं? विभ्राजिष्णुं-अत्यन्तं विराजमानम्। पुनः किम्भूतं? अगर्वं-गर्व रहितं। पुनः किम्भूतं? अस्मरं-जितकन्दर्पं। पुनः किम्भूतं? अनासादम्-अवसन्नताशून्यम्। पुनः किम्भूतं? श्रुतोल्लङ्घने सद्ज्ञानद्युमणि-शास्त्रोल्लङ्घने केवलज्ञानसूर्यं। पुनःकथम्भूतं? वरवपुःश्रीचन्द्रिकाभेश्वरं-श्रेष्ठशरीर-कार्तिक-कौमुदीनक्षत्रनाथं, पुनः किम्भूतं? वर्ण्यं-स्तुत्यं, कथम्? अनेकधा-बहुधा, कैः? असुर-नरैः-दैत्यमनुजैः, न केवलदैत्यमनुष्यैः शक्रेण च-इन्द्रेण च। पुनः कथम्भूतं? एनच्छिदं-पापछेत्तारं। पुनः कथम्भूतं? विदुषां-पण्डितानां दम्भारिं-पाषण्डशत्रुं, पुनः कथम्भूतं? सदा-सर्वदा एकान्तरङ्गप्रदं, केन? सुवचसा-मधुरगिरा सदसन्नित्यादिरूपतया अनेकान्त-रङ्गप्रदातारम्। अत्र श्लोके सयत्नेन चक्रबन्ध उद्भावनीयः ॥ ३८ ॥ चक्रमिदमासन्नम् ॥

जिनपतिमतदुर्गे कालतः साधुवेषैः, ॥ ३९ ॥

व्याख्या—'जिनपतिमतदुर्गे०' अधुना-इदानीं तैर्विषयिभिः इयं स्वगच्छ-स्थितिः अप्रथि विस्तारिता। कस्मै? स्वार्थसिद्ध्यै-निजकार्यनिष्पत्तये, केवलं स्ववश-

जनजडानां श्रृङ्खलेव आत्माऽऽयत्ती कृता ये मूर्खजनाः तेषां बन्धनाय शृङ्खलेव-निगड इव। कस्मिन् सति ? साधुवेषैः-धूर्तैः जिनपतिमतदुर्गे-अर्हच्छासनप्राकारे अभिभूते सति, अर्हच्छासनमेव दुर्गं प्राकारः "कोट" इति भाषया तस्मिन् विषयिभिः-कामिभिः उपद्रुते सति यदा भगवच्छासनमेव दुर्गं प्रकारः धूर्त्तैः उपद्रुतं तदा तैः धूर्तैः इयं गच्छस्थितिः निजगच्छ-मुद्रा विस्तारितेत्यर्थः। कुतः अभिभूते सति ? कालतः- दुःषमाकालदोषात्। कैः ? भस्मकम्लेच्छसैन्यैः, यथा म्लेच्छसैन्यं कस्मिंश्चिदपि दुर्गे स्वभुजबलेन गृहीते द्रव्यार्थं तदन्तर्वर्त्तिनागरिकलोकबन्धनाय शृङ्खला प्रसारयंति च तथा लिङ्गिनः स्वकार्यार्थं मूर्खजनबन्धनाय गच्छस्थितिं प्रसारितवन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

संप्रत्यप्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक ॥ ४० ॥

व्याख्या 'संप्रत्य—प्रतिमे०'॥ इत्थं-अमुना प्रकारेण लोकैः वयं कदर्थ्यामहे-उपहस्यामहे। कया ? सदागमस्य कथयापि-शुद्धसिद्धान्तधर्मस्य देशनाविचारमात्रेणापि। किं कृत्वा ? एकीभूय-एकमतं कृत्वा। कथम्भूतै र्लोकैः ? तदाज्ञापरैः-मोहराजाज्ञापरैः। कस्मिन् सति ? मोहराजकटके प्रौढिं जग्मुषि सति, कोऽर्थः ? मिथ्याज्ञानराजसैन्ये प्रौढतां याति सति। न केवलं मोहराजकटके प्रौढिं जग्मुषि सति प्रागुक्तकुसङ्घशरीरे प्रोज्जृम्भिते सति-अभ्युद्यते सति, पुनः कस्मिन् सति ? दुरन्तदशमाश्चर्यम्-असंयतपूजालक्षणम्, तस्मिन् विस्फूर्जति सति। कुसङ्घवपुषि। किम्भूते ? संप्रति-अधुना अप्रतिमे-असदृशे कथम्भूते दशमाश्चर्ये ? भस्मकम्लेच्छातुच्छबले-भस्मराशितुरुष्काधिपतिसैन्यैः-भस्मको भस्मराशिग्रहः, स एवार्हच्छासनरतानामेकबाधाविधायित्वात् म्लेच्छाः-तुरुकास्तेषां सैन्यैः। यथा कश्चिन्महाराजाधिराजो म्लेच्छामहासामन्तैर्भूमण्डलं साधयति तथा अयमपि मोहराजा भस्मकादिभिर्जिनशासनमतिलङ्घयतीत्यर्थः॥ ४० ॥

वृत्तिकार-प्रशस्तिः।

क जिनवल्लभसूरिसरस्वती, क च शिशोर्मम वाग्विभवोदयः।
शुकवचोवदिमां सुजनाः खलु, श्रवणयोः कुतुकात् प्रकरिष्यथ ॥ १ ॥

श्रीवीरदास इति वीरजिनेश्वरस्य, पादाब्जपूजनपरायणचित्तवृत्तिः।
श्रीमानभूदमलकीर्तिवितानकेन, येनावृतं जगदिद करुणात्मकेन ॥ २ ॥

तस्यात्मजोऽभवदनन्तगुणाः समग्र-सम्यक्त्वसंग्रहविवर्द्धितपुण्यराशिः।
श्रीमन् हमीर इति धीरतरः शरीरः, वाक् कर्महृद्भिरनिशं जिनपूजनायः ॥ ३ ॥

अर्हम् नमः ।

श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितः

श्रीहर्षराजोपाध्यायविहितलघुवृत्तियुतः

श्रीसंघपट्टकः

वन्दे शान्तिजिनं शान्ति-करं कर्मोत्करोज्झितम् ।
महोदयेन्दिरोदारं, विघ्नसङ्घातघातकम् ॥ १ ॥

भित्त्वा दुष्कर्मदुर्गं शमदमबलतः साधिकद्वादशाब्दै-
र्लेभे तीर्थङ्करश्रीः सदतिशयवती लीलया येन नृभ्यः ।
भक्तेभ्यश्च प्रदत्ता स सुरमणिरहो ! ! इष्टदस्त्वं हि सार्व-
स्तेनालं मां कुरुष्व स्वविमलकमलालङ्कृतं वर्द्धमानः ॥ २ ॥

जिनवल्लभसूरीन्द्रैः, कृतः श्रीसङ्घपट्टकः । तद् व्याख्यामल्पधीः कुर्वे, बृहट्टीकाऽनुसारतः ॥३॥

व्याख्या—अथ 'सङ्घपट्ट[क]' इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते-'सङ्घस्य' ज्ञानादिगुणसमुदायरूपस्य—साध्वादेश्चतुर्विधस्य 'पट्टको' व्यवस्थापत्रं, यथा राजादयः स्वनियोगिभ्यो व्यवस्थापत्रं प्रयच्छन्ति 'अनया व्यवस्थया युष्माभिर्व्य-वहर्त्तव्य'-मिति, एवमिहापि साक्षाद्विपक्षदोषदर्शनद्वारेण स्वपक्षसुसङ्घस्य व्यवस्था वक्ष्यमाणा दर्श्यत इति सङ्घपट्टकः । तत्रादि-वृत्तम्—

वह्निज्वालावलीढं कुपथमथनधीर्मातुरस्तोकलोकः ॥ १ ॥

व्याख्या—'स्तुमः' प्रणुमः, अस्मत् प-प्रयुज्यमानेऽप्युत्तमपुरुषप्रयोगकथना-द्वयमिति कर्त्तृपदं स्वयमिह ज्ञेयं, कं ? देवं, दीव्यते-स्तूयते शक्रादिभिरिति देवः स चात्र प्रकरणात्-अभिष्टदेवतात्वेन स्तवार्हत्वाज्जिनः, सोऽपीह कमठतपोदुष्टतास्पष्टनलक्षणा-साधारणविशेष[ण]योगात्पार्श्वनाथः । तं देवं स्तुमः, यो'जगादेव' प्रतिपादयामासेव । इव शब्दो[ऽत्र उ]त्प्रेक्षाद्योतकः। किं ? इति तदेवाह-विधुरमित्यादि । 'प्राज्ञैः' प्रेक्षावद्भिः 'कार्यं' विधेयं 'कुपथस्खलनं' सर्वसामर्थ्येन पूर्वापराऽविसंवादिशास्त्रविरुद्धमतनिराकरणं ।

किं कृत्वा ? 'प्रपद्य' अङ्गीकृत्य, किं ? 'विधुरमपि–व्यसनमपि। अपिः सम्भावने, एतत्सम्भावयति सति सामर्थ्ये स्वापायशङ्कया कुपथस्खलनाऽवधीरणं स्वनन्तजीवसंसारकारणत्वेन महतेऽनर्थायेति। कस्य विधुरं ? 'स्वस्य' आत्मनः कथं ? सद्यस्तत्क्षणात्। किलेत्याप्तवादे। कस्मादेवं जगादेव ? इत्यत आह–कारुण्यामृताब्धिः–'कथमयं जनो मया कुमार्गपथादुद्धरणीयः' इति कृपापीयूषसागरो भगवान्। नहि लोककृपां विना कश्चित्स्वकष्टमङ्गीकरोति। किं कुर्वाण एवं जगादेव ? इत्यत आह–'स्पष्टयन्' प्रकटीकुर्वन्, किं ? कमठमुनितपः–कमठाभिधान–लौकिक–तपस्वि–पञ्चाग्निरूप–कष्टानुष्ठाता 'दुष्टं' प्राणिवध–लाभ–पूजा–ख्यातिकामनादिदोषयुक्तं। कथं दुष्टं ? उच्चैरतिशयेन। किं कृत्वा ? 'सन्दर्श्य' दर्शयित्वा, कं ? 'नागं' पञ्चाग्नितपोनिमित्तज्वलिताग्निकुण्डान्तर्वर्त्तिकाष्ठकोटरमध्यगं भुजङ्गं। किं विशिष्टं ? 'वह्निज्वालावलीढं' निरन्तरं प्रज्वलद्वह्निज्वाला–व्याप्तं अर्द्धदग्धमिति यावत्। क्व ? 'अग्रे' पुरतः, कस्याः ? 'मातुः' स्वजनन्याः, न केवलं मातुः, तथा समस्तलोकस्य। कस्मात्सकलजनमध्ये भगवांस्तत्तपस्तिरश्चकार ? यतः 'कुपथमथनधीः' असन्मार्गोच्छेददक्षः। एवं ज्ञानबल–ज्ञातकमठविधास्यमानजलधरधारासम्पातादिस्वापायाभ्युपगमेनापि कमठतपसो दुष्टत्वं स्पष्टयताऽर्थादेतत्प्रत्यपादि–यत् मद्वद् भवद्भिरपि कुमार्गस्खलनं स्वकष्टाङ्गीकारेणापि कार्यमिति वृत्तार्थः॥ १॥

तदेवमिष्टदेवतास्तवमभिधाय–इदानीं सङ्घव्यवस्थोपदेशतत्त्वं कथनीयं, तच्च योग्यपुरुषस्य प्रतिपाद्यमानं साफल्यमासादयेत्, तेनोपदेशरहस्यभणनयोग्यं श्रोतारं निरूपयितुमाह—

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथ॥ २॥

व्याख्या—'उच्यसे' उपदिश्यसे, त्वमिति युष्मदो श्रोतृनिर्देशः, मयेति कर्त्तुरात्मनिर्देशः। ततश्च भोः श्रोतः! मया त्वं सङ्घव्यवस्थां प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः। कस्माद् ? इत्याह–कल्याणाभिनिवेशवानिति। इति शब्दा अत्र सर्वेऽपि हेत्वर्थाः। कल्याणः–शुभोऽभिनिवेशः–आग्रहः, सद्ग्रह इत्यर्थः, तद्वान्, सद्ग्राहिणो हि सदुपदेशरत्नश्रवणे परमानन्दः समुल्लसति १। तथा गुणग्राहीति–अल्पीयसोऽपि गुणस्य ग्रहणप्रवणः, दोषैकग्राहिणो हि अविद्यमानेऽपि दोषे तद्ग्राहकत्वमेव स्यात् २। तथा मिथ्यापथप्रत्यर्थीति, मिथ्यापथो वक्ष्यमाणो यथाछन्दप्ररूपितोत्सूत्रमार्गः तस्य 'प्रत्यर्थी' विरोधी, उत्सूत्रमार्गं श्रोतुमप्यनिच्छुः, उत्सूत्रपथाभिलाषुकस्य यथार्थसिद्धान्तोपदेशस्त्रासाय स्यात् ३। तथा विनीत इति गुर्वादिष्वभ्युत्थानादिकरणलालसः, विनीतायैव

गुरवः सिद्धान्ततत्त्वं कथयन्ति ४। तथा अशठ इति–ऋजुस्वभावः, गुर्वादिषु जीविका (निहिः ति) निरपेक्षप्रवृत्तिरित्यर्थः, शठो हि न विद्यायोग्यः ५। तथा औचित्यकारीति च-लोकागमाविरोधेन गुर्वादिषु यथानुरूपं विनयादिप्रवृत्तिरौचित्यं, तत्करणशीलः, औचित्य–हीनस्य शेषगुणाः सन्तोऽपि काशकुसुममङ्काशाः ६। तथा दाक्षिण्यीति, दाक्षिण्य–मनुकूलता–जनचित्तानुवर्तित्वं, तद्वान्, निर्दाक्षिण्यो हि बन्धूनामप्युद्वेगकृत् ७। तथा दमिति–जितेन्द्रियः, अजितेन्द्रियो हि गुरुसेवायामपि मन्दायते ८। तथा नीतिभृदिति–सदाचारपरायणः, तद्वतो हि सर्वेऽपि साहाय्यं भजन्ते [संदत्ते] ९। तथा स्थैर्यीति, स्थैर्यं–कार्यारम्भेऽनौत्सुक्यं,तद्वान्,उत्सुका हि रामस्येन कार्यमारभमाणाः शास्तारमप्युद्वेजयन्ति १०। तथा धैर्यीति, धैर्यी–आपत्स्वपि मनसोऽक्षोभ्यत्वं, तद्वान्, अधीरोऽपि विघ्नाकुलितचेता गुरुमपि हीलयति ११। तथा सद्धर्मार्थीति, स [त्] न् (?)–शोभनो धर्मोलोकप्रवाहरहित आज्ञानुगतः शुद्धो मार्गः, तस्यार्थी–गवेषकः १२। तथा विवेकवानिति, पारिणामिक्या बुद्ध्या युक्तायुक्तविमर्शो विवेकः, तद्वान् १३। तथा सुधीरिति, सुधीः–प्राज्ञः, अज्ञे हि वक्ताऽपि गुरुर्न किञ्चित्संस्कारमाधातुमिष्टे १४। तदेवं पूर्वोदित सकलगुणग्रामसम्पन्नः त्वं भोः श्रोतः!, ततो मयोपदेशसर्वस्वं श्राव्यसे इति वृत्तार्थः ॥२॥

इदानीं योग्यश्रोतारं प्रति यद्वक्तव्यं तत्प्रस्तावनामारचयितुं वृत्तद्वयमाह—

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल ॥ ३ ॥
प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहसखदशमाश्चर्यसाम्राज्यपुष्यन् ॥ ४ ॥

व्याख्या—एवं विधे प्राणिवर्गे सति साधुवेषैः सोऽयं ‘ पन्थाः ’ मार्गः अप्राथीति सम्बन्धः। ‘ अतानि ’ विस्तारितः, कोऽसौ ? ‘ पन्थाः ’ स्वेच्छाकल्पितं मतं ‘ स ’ इति सकलजनप्रसिद्धः ‘अय’मिति इदानीं प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणः। कथमप्राथि ? ‘ अभितः ’ समन्ताद् भूरिदेशेष्वित्यर्थः। कैः ? साधुवेषैः, साधोः सुविहितस्येव वेषो–रजोहरणादि नेपथ्यं, न त्वाचारो, येषां ते तथेति, सन्मुनिलिङ्गमात्रधारिभिः। कुत एतदित्याह–विषयिभिः, विषयवन्ति–संसारगुप्तौ बध्नन्ति आसेविनं प्राणिनमिति विषयाः–शब्दादयः तद्वद्भिः, विषयासङ्गो हि यतीनां दीक्षया विरुद्ध्यते। किंरूपः पन्थाः ? [जिनोक्तिप्रत्यर्थी,] जिनानामुक्ति–र्वचनमागमः तस्य ‘प्रत्यर्थी’ विरोधी। कस्मादेवं विधः पन्थाः प्रथितस्तैः सङ्क्लिष्टेत्यादि, सङ्क्लिष्टः–सातत्येन धार्मिकजनोपतापकर्त्ता रौद्राध्यवसायवान्, द्विष्टो–मत्सरी–गुणवद् गुणध्वंसनप्रगुणबुद्धिः मूढो–हेयोपादेयविमर्शशून्यः, प्रखलः–प्रकर्षेण पिशुनः गुणवद् गुणासद्दूषणारोपणचतुरः, जडो–दुर्मेधा यो जन–स्तेषामेव

चतुर्विधः स सङ्घस्तस्याम्नायः–शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानः तत्र रक्ताः–प्रीतिमन्तः, यद्वा सङ्क्लिष्टादिविशेषणोपेतो जनो नाम सुविहितसङ्घतस्याम्नायो–गुरुपारम्पर्यागतश्रुतविरुद्धाचारणा, तत्र रक्ताः–पक्षपातिनस्तैः, ते हि स्वमदृशजनाचरितं प्रामाण्येन प्रतिपद्यन्ते, अत एव एवंविधा जिनोक्तप्रत्यर्थिनमेव मार्गं प्रथयन्ति । अथ दीप्यमाने सूर्ये इव पारमेश्वरे पथि कुत एवं प्रथनस्य तमस इवावकाशस्तत्राह–' जगति ' लोके ' विरलतां ' स्तोकतां–अल्पजनाभ्युपगमनीयतां ' याति ' प्राप्नुवति सति । कस्मिन् ? जैनेन्द्रमार्गे–भगवत्प्रणीते शुद्धे प्रतिश्रोतसि पथि । कस्मादेतत् ? इत्यत आह–प्रोतसर्पदित्यादि, प्रोत्सर्पत्–श्रीवीरमुक्तिसमये तज्जन्मराशिसङ्क्रान्त्या तत्पक्षसङ्घस्य बाधाविधायित्वात् प्रोज्जृम्भमाणो भस्मराशिनामा–मङ्गलादिवत् क्रूरग्रहस्तस्य ' सखा ' मित्रं, राजादित्वात् । ततश्च प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहसखं यद्दशमाश्चर्यम्–असंयतपूजालक्षणं । अत्र च सख्यं भस्मराशिदशमाश्चर्ययोर्लौकिकसखयोरिव द्वयोरपि साहचर्येण दुष्क[ऐकका]र्यकारित्वं यथाछन्दप्राबल्यकारित्वेन मिथ्यात्वपोषस्तस्य साम्राज्यमिव, साम्राज्यं यथा राज्ञः कस्यचित सकल–मण्डलाधिपत्यं[रिपुवि]जयपुरस्सरमाज्ञैश्वर्यं साम्राज्यमुच्यते, एवमिहापि सुविहित जन–तिरस्कारेण सकललोकस्यासंयतजनवशवर्त्तित्वं दशमाश्चर्यस्य साम्राज्यं, तेन 'पुष्यद्' एधमानं–वर्द्धमानं 'मिथ्यात्वं' अतत्त्वे तत्त्वप्रतिपत्तिरूपं, तदेव 'ध्वान्तं' अन्धकारं, सम्यग्ज्ञानावलोकन–निरासक्षमत्वात्, तेन ' रुद्धे ' व्याप्ते जैनेन्द्रमार्गे । अथ क्व सति जैनेन्द्रमार्गे । मिथ्यात्व[ध्वान्त]रुद्धत्वाद्विरलतां प्राप्ते ? इत्याह–इह किलेत्यादि, इह–जगति, किल–शब्दार्थस्त्वग्रे वक्ष्यते, प्राणिवर्गे–मानवसमुदाये सति । किंरूपे ? लोकोक्त्या कलिकालो जिनोक्त्या दुःषमाकालस्तेन, कलिकाल एव–दुःषमाकाल एव निखिलानाचारगरलनिलयत्वाद् व्यालः–सर्पस्तस्य 'वक्त्रान्तर्गलं' वदनमध्यं, तत्र 'स्थितिं' अवस्थानं 'जुषते' सेवते यः तस्मिन् । अत एव तत्त्वेषु भगवत्प्रणीतेषु जीवाजीवादिषु 'प्रीतिः' एतान्येव वास्तवानि तत्त्वानि, न तु कुतीर्थिकप्रणीतानि, [इति] चेतसः प्रमोदः । तथा 'नीते' र्न्यायस्य–सदाचारस्य 'प्रचारः' प्रवृत्तिः । ततश्च गतौ–यथाक्रमं कुदर्शनाभ्यास–दुर्विदग्धत्वेन प्रमादाक्रान्तत्वेन च नष्टौ [तत्त्व]प्रीति–नीति–प्रचारौ यस्य स तथा, तस्मिन् । तथा, ' प्रसरत् ' तथाविधगुरुसम्प्रदायाभावात्–प्रादुर्भवद् ' अनवबोधः ' सम्यक्सिद्धान्तार्थापरिज्ञानं, तेन परिस्फुरन्तः कापथानां 'ओघाः' समूहास्तैः 'स्थगितः' तिरस्कृतः सुगतेरपवर्गलक्षणायाः 'सर्गो' निष्पत्तिर्यस्य स तथा, तस्मिन् । 'सम्प्रति' इदानी । किलेति सम्भावने, सम्भाव्यते एतत् यत्कलिकालानुभावात् सम्प्रत्येवंविधे प्राणिवर्ग इति वृत्तद्वयार्थः ॥ ३–४ ॥

इदानीं योग्यश्रोतुरग्रे साधुवेषकल्पिते पथि दशभिर्द्वारैः तत्प्ररूपितं धर्मं कथयन् तस्य च कर्मनिर्मूलनक्षमत्वमसम्भावयन् इदमाह—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमौ ॥ ५ ॥

व्याख्या—अत्र पथि अयं धर्मः–चेत्कर्महरो भवेत् तदा मेरुरब्धौ तरेदिति सम्बन्धः। 'अत्र' अस्मिन् प्रत्यक्षोपलभ्यमाने 'पथि' मार्गे-लिङ्गिकल्पिते मते धर्म-औद्देशिकभोजनादिः, अयं 'चेत्' यदि 'कर्महरो' ज्ञानावरणादिध्वंसदक्षो 'भवेत्' स्यात् तदानीं मेरुर्लक्षयोजनमानः–पर्वतराजः 'अब्धौ' सागरे तरेत्। अयं च 'निदर्शनालङ्कारः–ततश्चायमर्थः-समुद्रे पाषाणखण्डस्य तरणमसम्भवि किं पुनर्मेरोः ?, ततो यथा मेरोः समुद्रतरणमघटमानं एवमस्य धर्मस्य कर्महरत्वमिति। 'यत्र' यस्मिन्पथि, किं ? यतीनामौद्देशिकभोजनादिर्धर्म इष्यत इति सर्वत्र क्रियाऽध्याहारः । तथा 'उद्देशेन' विकल्पेन–यतीन्मनसि कृत्वा निवृत्तं–निष्पादितं औद्देशिकं। क्रीतादिकत्वादू–इकण्। तच्च तद्भोजनं चाशनादि। यद्यपि सिद्धान्ते औद्देशिकशब्द उद्गमदोषद्वितीयभेदार्थः श्रूयते, तथापीह वक्ष्यमाणवृत्तार्थपर्यालोचनेन आधाकर्मणि वर्त्तते, तस्यैवेह केवलयतिनिमित्त विधीयमानत्वेन महादोषतया विवक्षितत्वात्, उद्देशनिवृत्तस्य च सामान्य व्युत्पत्त्यर्थस्योभयत्रापि समानत्वात्। अत्र यतीनामौद्देशिकभोजनग्रहणे यथाछन्दा युक्तिं दर्शयन्ति–पूर्वं हि बहवोऽत्यन्तं दानश्रद्धालवः श्राद्धा अभूवन्, तेन यतीनां प्रासुकैषणीयेनापि भैक्ष्येण निराबाधं निर्वाहोऽभूत्, इदानीं दुष्षमाकालदोषात् दरिद्रताल्पतां च गच्छत्सु श्राद्धेषु ऐदंयुगीनमुनीनां तथाविधशक्तिसंहननविकलानां शुद्धेन भक्तादिना संयमनिर्वाहाभावे यदि कश्चिच्छ्रद्धालुस्तीर्थाविच्छेदमिच्छुः श्राद्धः साधुसङ्घनिमित्तकृतभक्तादिनाऽपि धर्माधारं शरीरमवष्टम्भयेत् तदा को दोषः ? आत्मा च यतिना यथा कथञ्चन रक्षणीयः, तस्माद्यतीनामाधाकर्मिकभोजनमदुष्टं, संयम–शरीरोपष्टम्भकत्वात्,कल्पग्रहणवच्छुद्धभोजनवद्वा। तथा यतिभिराधाकर्मिकभोजनं विधेयं, श्राद्धश्रद्धावृद्धिहेतुत्वात्, धर्मदेशनवदिति प्रयोगावप्युपपद्येते १। तथा 'जिनानां' अर्हतां गृहं, तत्र 'वासः' सर्वदाऽवस्थानं । इह केचित्सुखशीलतयोद्यतविहारं कर्तुमशक्नुवन्तो यतीनां चैत्य एव सदाऽवस्थानं युक्तमिति प्रतिपेदिरे, ते चाहुः–तस्मात् इदानीं जिनगृहवास एव साधूनां सङ्गतः प्रतिभाति, न च तत्राधाकर्मिकादयो दोषाः, तीर्थंकरार्थं कृतत्वात्। चैत्यम्–इदानीन्तनमुनीनामुपभोगयोग्यं, आधाकर्मिकदोषरहितत्वात्, शुद्धाहारवदित्यादि। तदेवं सूक्ष्मदृष्ट्या विमृशतां विदुषां चित्ते चैत्यवास एवेदा-

नीन्तनमुनिनां सङ्गतिमङ्गति २। तथा वसत्यक्षमेति, वसतौ–परगृहे निवासं प्रति-अक्षमा–मात्सर्यं, आधाकर्म–स्त्रीसंसक्त्यादिदोषजालरहितजिनगृहवासलाभे आधाकर्मिक-वसतिवासस्य अत्यन्तमनुचितत्वात्। को ह्युन्मत्तः पथ्याशनप्राप्तावपथ्यमश्नीयात्, तस्मात्परगृहवसतिरसमीचिनाऽधुनातनयतीनां। यश्चागमे परगृहवासः श्रूयते स तात्कालिक-सात्विक यति अत्यपेक्षयेति ३। तथा 'स्वीकारः' स्वायत्तापादनं, केषु? इत्याह–'अर्थो' द्रविणं 'गृहस्थः' श्राद्धः 'चैत्यसदनं' जिनगृहं ततोऽर्थश्चेत्यादि द्वन्द्वः, तेषु। तत्र द्रव्य-स्वीकारस्यागमे निषिद्धत्वेऽपि साम्प्रतयतीनां तत्स्वीकारो युक्तः, तं विना ग्लान-परचक्र-दुर्भिक्षाद्यवस्थायां भैषजपथ्याद्यनुपपत्तेः। प्रायेण गृहमेधिनां कालदोषान्निर्द्धनत्वेन निर्द्ध-र्मत्वेन च यतिचिन्ताद्यविधानात्, तेनार्थस्वीकारः साम्प्रतिकमुनीनां सङ्गत इवाभातीति ४। तथा श्रावकस्वीकारोऽपि अद्यतनमुनीनामुत्सर्गापवादपदविदुराणां न निर्युक्तिकः। पूर्वं हि कालस्य सौस्थ्यादतिशयवत्पुरुषबाहुल्याज्जैनमतबाह्या अपि जनाः श्वेताम्बरभिक्षुभ्यः सबहुमानं भिक्षादिकं वितेरुः, साम्प्रतं तु जैनमार्गवैमुख्येन तेषां तथाविध श्वेताम्बर-दित्साया अभावात्, अतः श्राद्धस्वीकारं विना भिक्षाऽवाप्तेरप्यनुपपत्तेर्युक्तः सम्प्रति श्राद्धस्वीकारः ५॥ तथा चैत्यस्वीकारोऽपि मुनीनां समीचीनः, सम्प्रति गृहस्थानां चैत्यचिन्तां प्रति निरवधानतया यतिस्वीकारमन्तरेण कालेन तद्भ्रंश सम्भवात् मार्गलोपप्रसङ्गेन चागमे त्वर्थापत्त्या तत्स्वीकारस्याभिधानात् ६। तथा न विद्यते 'प्रेक्षितं' चक्षुषानिरीक्षणं, आदिशब्दात्प्रमार्जनं रजोहरणादिना यत्र तदासनं विष्टरं स्यूतगब्दिकादौ शुषिरगम्भीरसिंहासनादौ च प्रत्युपेक्षणादि यतीनां न शुद्ध्यति, तेन च तत्र न कल्पते उपवेष्टुं। चैत्यावासिनश्चैवं प्रतिपद्यन्ते–प्रवचनप्रभावनाहेतोस्तादृशासनो-पवेशनस्यापि साधियस्त्वात्, प्रवचनप्रभावनायाः प्रधानदर्शनाङ्गत्वेन यथाकथञ्चन विधेयत्वात्। ततः सिद्धमिदं–आचार्याणां गब्दिकाद्यासनमुपादेयं, प्रवचनप्रभावनाङ्ग-त्वात्, सम्मत्यादिप्रमाणशास्त्राध्ययनवत् ७। तथा 'सावद्यं' सपापं 'आचरितं' आच-रणा, तत्र 'आदरः' अग्रहः। आचरणा हि निरवद्यैव प्रमाणं, एषा तु सावद्या, गृ[हि]-ह (?) दिग्बन्धाद्याचरणाद्यभ्युपगमे यतेस्तद्विधीयमाननिखिलपापारम्भानुमत्याद्यापत्तेः, तथा ह्येषा चैत्यवासिभिरादृता, यतस्तेषामयमाशयः–प्रायेण सम्प्रतितन–यतीनां गृहस्था-न्योऽन्याकृष्ट्या कलहेनाव्यवस्थया सर्वमसमञ्जसमापद्यते, तस्मादेषाऽप्याचरणाऽद्यतन-कालापेक्षया युक्तिमतीति ८। तथा 'श्रुतस्य' सिद्धान्तस्य 'पन्था' मार्गस्तत्रावज्ञा–अनादरः। ते ह्येवमाहुः–भगवत्सिद्धान्तो हि नैकान्तनिष्ठो, विहितानामपि केषञ्चिदनु-ष्ठानानां क्वचिन्निषेधात् निषिद्धानामपि क्वचिद्विधानात्, अतो न आस्थां कृत्वा केवलया सिद्धान्तव्यवस्थया किमपि कर्तुं परिहर्तुं वा पार्यते, तेनागमबहिष्टाऽपि काचित्सुकुमार

क्रिया अद्यतनसाधुप्रवर्त्तिता विवेकिनां निःश्रेयसाय भविष्यति, किं श्रुतेनेति ९। तथा 'गुणिषु' ज्ञानादिवत्सु यतिषु 'द्वेषधीः' मात्सर्यबुद्धिः, स्वयं निर्गुणानां तद्गुणानसहिष्णूनां तदुपजिघांसया दुष्टा मतिरिति एते च परगृहवासिनो धार्मिकं मन्या आत्मानमेवैकं गुणैरुत्कर्षयन्तो निखिलानप्यपरान् दूषयन्त ऐदंयुगीनं सङ्घमप्यवमन्यमानास्तत्प्रवृत्तिं दूरेण परिहरन्तो लोकव्यवहारमप्यजानानाः सङ्घबाह्या एव, अतस्सर्वथैवैते उच्छेत्तव्याः, द्वेष एवैषु श्रेयान् १०।

"गौतमादिषु वर्त्तित्वा—त्तादृशेषु यतिध्वनिः। कथमेतेषु वर्त्तेत ?, निर्गुणेष्वञ्जसेति चेत् ? ॥१॥"

"कल्पक्षोणिरुहां यद्वद्, गुणायोगेऽपि वर्त्तते। निम्बादिषु तरुध्वानो,विना विप्रतिपत्तितः ॥२॥"

"यथा च जात्यरत्नानां, गुणाभावेऽपि तादृशाम्। काचे सान्द्रांशु चारचिक्ये, मणिशब्दः प्रयुज्यते"

"गौतमादिगुणायोगे—ऽपीदानीन्तनसाधुषु। उद्यच्छत्सु स्वशक्त्यैवं, प्रवर्त्स्यति यतिध्वनि ॥४॥"

इति वास्तत्र क्षान्त्यादिदशविधयतिधर्मस्पर्द्धयैव यथाछन्दैः प्रदर्शितो धर्मोऽयं चेत्कर्महरो भवेदित्यादि पूर्वव्याख्यातमिति वृत्तार्थः ॥ ५ ॥

इदानीमेतानि दशद्वाराणि यथाक्रमं कथयन् प्रथमं तावज्जीवोपमर्दाद्यनेकदोषप्रकटनपूर्वमौद्देशिकभोजनद्वारं प्रत्याख्यातुमाह—

षट्कायानुपमृद्य निर्दयमृषीनाधाय यत्साधितं ॥ ६ ॥

व्याख्या—कः 'सघृणो' दयालुर्विदन्—सङ्घादिनिमित्तमेतन्निष्पन्नमिति जानन् इहेति प्रवचने 'जिघत्सति' अत्तुमिच्छति ?। "अदेः सनन्तस्य घसादेशे रूपं"। किं तत् ? 'सङ्घः' साधुसाध्वीरूपः श्रमणगणः आदिशब्दादेकद्वित्रादिश्रमणपरिग्रहः, तस्य भक्तं—तत्कृते निवृत्तमशनादि, नामेति कुत्सायां, अतीव कुत्सितमेतद्भक्तं यतीनां, जानतो मुनेः कृपालोरेवं विधं भक्तं भोक्तुं न कल्पत इत्यर्थः। कथं तत्कुत्सितं ? अत आह—यत्साधितं, तच्छब्दस्य यच्छब्देन नित्याभिसम्बन्धात्, ततश्च यद्भक्तं 'साधितं' निष्पादितं, गृहस्थेनेति शेषः। किं कृत्वा ? 'आधाय' उद्दिश्य, कान् ? 'ऋषीन्' यतीन्, यतिभ्यो मयैतद्देयमिति चित्ते कृत्वेत्यर्थः। अथ निरवद्यवृत्त्या यतिनिमित्तं कृतेऽप्यस्मिन् को दोषः ? इत्याह—'उपमृद्य' विध्वस्य 'षट्कायान्' पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पति-त्रसाख्यान् षड्विधजीवनिकायान्। कथमुपमृद्य ? इत्याह—निर्दयमिति क्रियाविशेषणं। ननु भवत्वेतद्यत्यर्थं साधितं कुत्सितं, तथापि सिद्धान्तानिषेधाज्ञ

दूष्यतीत्याह–' शास्त्रेषु ' ग्रन्थेषु निशीथादिषु ' प्रतिषिध्यते ' यतिभोज्यतया निवार्यते यदुक्तं, कथं ? असकृत्–अत्यन्तदुष्टताख्यापनाय मुहुर्मुहुः, तथा च आहारोपधि–वसत्याधाकर्मविचारावसरे निशीथेऽभिहितं—

" एए सामन्नयरं, आहाकम्मं तु गिण्हए [भुंजइ] जोउ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१॥ " तथा पिण्डनिर्युक्तावपि—

"आकम्मं भुंजइ न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स। एमेव अडइ बोडो,लुत्तविलुत्तो जह कवोडो ॥ २ "

दशवैकालिकनिर्युक्तावपि—

" उद्दिट्ठकडं भुंजइ छक्कायपमद्दणे घरं कुणइ। पच्चक्खं च जलगए,जो पीअइ कहन्नु सो साहू ?॥३॥"

नन्वस्तु एवमागमनिषेधः तथापि तस्य मुनिना स्वयमकृताकारितानुमतत्वात्तदा ददानस्य तस्य मुनेः को दोषः ? इत्याह–'निस्त्रिंशतां' निश्शूकतां–निर्दयत्वं 'आधत्ते' करोति यत्तत्तदाधायि–निश्शूकताकारकं यदुक्तं। अयं भावः–स्वयमकृताद्यप्याधाकर्मजानन् गृह्णानो मुनिर्भक्तिमद् गृहिणः प्रसङ्गासञ्जनात् अत्यन्तगृध्नुर्निश्शूकत्वेन सचित्तमपि न जह्यात्, अतः कथं न दोषः ?, तदुक्तं—

"सव्वं तहवि मुणंतो, गिण्हंतो वड्ढए पसंगं से। निद्धंधसो य गिद्धो,न मुअइ सजियं पि सो पच्छा॥ ४॥"

अत एव अत्यन्तम् एतत् जिहापयिषया गणधरा आनुरूप्येण–उपमानानि दर्शयामासुः। तथा चाह–गोमांसादीति, गोः–सुरभेर्मांसं, आदिशब्दात् वान्तोच्चारसुराग्रहः तैरुपमा सादृश्यं यस्य तत्तथा। यदुक्तमाहु–र्ब्रुवते गणधराः, यथाहि गोमांसभक्षणं लोकधर्मविरुद्धत्वेन महापापहेतुत्वादत्यन्तनिन्दितत्वाच्च विवेकिनां सर्वथा हेयं, तथाऽऽधाकर्मभक्तमपि, एवं वान्तादिष्वपि यथासम्भवं योज्यं। अथेति प्रकारान्तरे, यदुक्तं भुक्त्वा मुनिर्याति–गच्छति 'अधो'ऽधस्तात्, संयमादिति ज्ञेयं, अथवा अधोगति–नरकं। अत्र च वृत्ते एक वाक्यस्थेनैव यच्छब्देन सकलवाक्यार्थे दीपिते यत्प्रतिपदं यच्छब्दोपादानं तत्सङ्घादिभक्तस्यात्यन्तपरिहरणीयता ख्यापनार्थं। यत्साधर्म्यामासैः–इदानीन्तनकालापेक्षया यतीनामाधाकर्मभोजनमपीष्यते तदनुमानाभ्यां निषिध्यते, तथाहि–यतीनामाधाकर्मभोजनमनुपादेयं, षड्जीवनिकायोपमर्द निष्पन्नत्वात्, तथाविध वसत्यादिवत्। तथा यतीनामाधाकर्मभोजनमभोज्यं, धर्मलोकविरुद्धत्वाद्, गोमांसादिवदिति। एवं चोपपन्नमेतत्–सङ्घादिभक्तं यतीना न भोक्तव्यमिति वृत्तार्थः ॥ ६ ॥

इदानीं देवद्रव्योपभोगदूषणप्रदर्शनद्वारेण जिनगृहवासनिराकरणायाह—

गायद्गन्धर्वनृत्यत्पणरमणिरणद्वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग ।

व्याख्या—खलुर्निश्चये, जिनगृहे 'अर्हन्मतज्ञा' भगवदागमनिपुणा यतयो नैव वसन्ति, तदागमे तद् निवासस्यात्यन्तं निवारणात्, सन्तो—विवेकिनः । कुतः ? इत्यत आह—'सती' शोभनाऽकृत्रिमा भक्तिः तस्या 'योग्यं' उचितं, तस्मिन्, भक्तिरेव यतस्तत्र कर्तुं युज्यते । भक्तियोग्यतामेव विशेषतो विशेषणद्वारेण दर्शयति—गायदित्यादि, गायन्तो—भगवद् गुणानेवोत्कीर्त्तयन्तो 'गन्धर्वाः' प्रधानगायना यत्र तत्तथा, नृत्यन्ती—नाट्यशास्त्रोक्तक्रमेण करचरणादि—अङ्गविक्षेपं कुर्वती 'पणरमणी' वारस्त्री नृत्यकी यत्र तत्तथा, रणन्तो—मुखमरुताभिघातान्मधुरं ध्वनन्तो 'वेणवो' वंशा यत्र तत्तथा, गुञ्जन्तो—मार्दङ्गिकैः पाणिभ्यां ताडनाद् गम्भीरं स्वनन्तो 'मृदङ्गा' मरु[मुर]जा यत्र तत्तथा, प्रेङ्खन्त्यो—लम्बमानत्वात् मन्दपवनेन कम्पमाना देवसेवार्थं विरचिताः 'पुष्पस्रजः' पुष्पमाला यत्र तत्तथा, उद्यत्—भगवत्प्रतिमा विलेपनार्थं विमर्दनसमुच्छलद्गन्धद्वारेण प्रसरन्मृगमदः—कस्तूरिका यत्र तत्तथा, लसन्तः—पट्टांशुकमयत्वान्मुक्ताफलादिविच्छित्ति युक्तत्वाच्च दीप्यमाना उल्लोचा—श्चन्द्रोदया यत्र तत्तथा, चञ्चन्तो—महाधनवस्त्रालङ्कारालङ्कृतशरीरत्वात् भ्राजिष्णवो 'जनौघाः' श्रावकसङ्घा यत्र तत्तथा, ततश्च गायद्गन्धर्वं च तन्नृत्यत्पणरमणि चेत्यादि कर्मधारयस्तस्मिन् । एतानि हि भगवद्गुणगानादीनि प्रवराणि जिनगृहे भक्तिहेतुकानि, भव्यानां शुभभावोल्लासहेतुत्वात् श्रद्धालुभिः क्रियन्ते, अथैवंविध भक्तियोग्यजिनगृहे किमिति साधवो न निवसन्ति ? अत आह—'त्रसन्तो' बिभ्यन्तः, कुतो ? देवद्रव्यस्य 'उपभोगः' सततं तत्र शयनासनभोजनादिकरणेन उपयोगः तथा 'ध्रुवा' शाश्वती—यावज्जीवं अथवा 'ध्रुवं' निश्चितं 'मठो' जिनगृहजगतीसम्बद्धो यतिनिमित्तनिष्पन्न उपाश्रयस्तस्य 'पतिता' आधिपत्यं—जिनगृहलेख्यकोद्ग्राहिणिका कर्मान्तरादि सकलचिन्ताकारित्वेनाधिकारित्वमिति यावत् । तथा भगवत्प्रतिमा—प्रत्यासत्तौ भोजन—शयनासन—निष्ठीवनाद्यविधिकरणेन भवत्याशातना अवज्ञा, ततश्च देवद्रव्योपभोगश्चेत्यादि द्वन्द्वः । ताभ्यः । अथ गृहिणा भगवन्निमित्तं स्वद्रविणेन निर्मापिते देवगृहे वसतो देवद्रव्यं कनकादिकमनुपभुञ्जमानस्य यतेः कथं देवद्रव्योपभोगः ?, जिनद्रव्यनिष्पन्ने हि तत्र निवसतस्तद्द्रव्यं साक्षाद्भुञ्जानस्य गृण्हतो वा स स्यादिति चेन्न, गृहिणा स्वद्रव्यनिर्मापितत्वेऽपि तस्मिन् देवार्थं कृतत्वेन देवद्रव्यत्वात्, तथा च तत्र वसतः साक्षात्तद्धनमनुपभुञ्जानस्यापि मुनेर्देवद्रव्योपभोगोपपत्तेः, साक्षादेवद्रव्यनिष्पन्ने तु का वार्त्ता ? इति यतिभिर्जिनगृहे न वासः कार्य इति वृत्तार्थ ॥ ७ ॥

इदानीं जिनाद्यासेवितत्वेन सिद्धान्तोक्तत्वेन च यतीनां परगृहवसतिं व्यवस्थापयन् वसत्यक्षमा द्वारं काव्यद्वयेन निरसिसिपुराह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निसेवितोक्तां ॥ ८ ॥

चित्रोत्सर्गोपवादे यदिह शिवपुरीदूतभूते निशीथे ॥ ९ ॥

व्याख्या—कः सकर्णः पुमान् 'परगृहे' गृहस्थगृहे 'वसतिं' निवासं 'विद्वेष्टि' मात्सर्यात् न क्षमते-निषेधयति ? मुनिपुङ्गवानां-सुविहितयतीनां, न कश्चिदित्यर्थः। अयमर्थः-अकर्णो हि कर्णौ विना सिद्धान्तोक्तामपि परगृहवसतिमनाकर्णयन् द्विष्यादपि, यः पुनः 'सकर्णः' सश्रवणः अथ च सहृदयः-परगृहवासचैत्यान्तर्वासगुणदोषविचारचतुर इति, स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु द्वेष्टि। किंरूपां वसतिं ? 'निषेविता' च सोक्ता चेति कर्मधारयः। कथं ? 'साक्षात्' प्रत्यक्षं-स्वयमित्यर्थः। कैः ? जिनै-स्तीर्थकृद्भिर्गणधरै-र्गौतमस्वामिप्रभृतिभिः। चः समुच्चये। जिनादिभिरुक्ता, तां। तथा सज्यते सक्यते जनोऽस्मिन्निति सङ्गः-गृह-धन-कनक-तनय-वनिता स्वजन-परिजनादिपरिग्रहः, निर्गताः सङ्गात् निःसङ्गास्तेषां भावस्तत्ता, तस्या 'अग्रिमं' मुख्यं 'पदं' स्थानं मुनीनां परगृहवसतिः, अथवा निस्सङ्गताया 'अग्रिमं' मौलं 'पदं' लक्ष्म-लिङ्गमित्यर्थः "पदं व्यवसितत्राण-स्थानलक्ष्मांह्रि वस्तुषु" इत्यनेकार्थवचनात्। निस्सङ्गता हि मुनित्वलक्षणं, वह्निरिव दाहपाकादिसामर्थ्यस्य, तस्याश्च लिङ्ग परगृहवसतिः, नहि स्वाधीने विभवे विद्वान् कश्चित्परमुपजीवेदिति। अत्र च पदशब्दस्यावि[शि]ष्टलिङ्गत्वान्न विशेष्यलिङ्गता किं कुर्वन् विद्वेष्टि ? इत्यत आह-'जानन्' आगमश्रवणेनावबुध्यमानेः। कां ? शय्यातर इत्युक्ति-भाषा, ताम्। सिद्धान्ते हि शय्यातर इति भाषा श्रूयते, न चासौ साधूनां परगृहवासं विनोपपद्यते, तथाहि-'शय्याया' वसत्या यतिभ्यो दानं, तया तरति संसारसमुद्रमिति शय्यातरशब्दार्थः, परगृहवसतिं विना यतीनां न कश्चित्साधुशय्यादाने यतेत, न च तरणमस्तीति शय्यातरशब्दस्य स्वार्थालाभे निर्विषयत्वापत्त्या सिद्धान्ते प्रतिस्थानमुच्चारणं कथमिव शोभां बिभृणात् ?, तस्मादागमे शय्यातरशब्दश्रुतेरपि परगृहवसतिर्मुनीनां ज्ञायते। तथा अनगारपदं च, जानन्निति सम्बध्यते। चः समुच्चये। न विद्यते 'अगारं' गृहं यस्यासौ अनगारः, ततश्च अनगार इति पदव्यपदेशः, श्रुते ह्यनगारपदं यतिवाचकं प्रतिपदं श्रूयते, तच्च तेषां स्वागाराभावेन परागारवासेन च सङ्गच्छते। अन्यथा स्वागारसद्भावे चैत्यवासे वा यथाक्रमं यतेर्गृहपति-मठपति-व्यपदेशप्रसङ्गेना-नगारपदवैयर्थ्यमापद्येतेति। ननु यदि हि सर्वागमे चैत्य-

वासोऽनभिमतः स्यात्तदा परगृहवसतिः क्षम्येतापि, यदा तु तत्र क्वचिच्चैत्यवासे कथितेऽपि हठेनैव भवद्भिः परगृहवसतिरास्थीयते, तदा कथं क्षम्यते? इत्याह–चित्रोत्सर्गेत्यादि, यद्यस्मात् इहप्रवचने 'निशिथे' प्रकल्पाध्ययने पञ्चमोद्देशकादौ किम्भूते? सामान्यविधिरुत्सर्गः विशेषविधिरपवादः। उत्सर्गश्चापवादश्चेति द्वन्द्वः। ततश्च 'चित्रौ' नानाविधौ वसत्यादिगोचरावुत्सर्गापवादौ–सामान्यविशेषविधी यत्र स तथा, तत्र तथा 'शिवपूर्या' मोक्षनगर्या 'दूतभूतः' सन्देशहरसदृशस्तत्र, भूतशब्दस्यात्र सदृश–वाचित्वात्, 'प्राक्' प्रथमं 'उक्त्वा' प्रतिपाद्य 'भूरिभेदाः' प्रभूतप्रकारा 'गृहिगृह-वसतीः' गृहस्थसदनरूपोपाश्रयान् पश्चात्–चरमं कारणे तथविधवसत्यलाभलक्षणे हेतौ 'अपोद्य' अपवादविषयीकृत्य, ता एवेति गम्यते। अयमर्थः–निशीथे पूर्वमौत्सर्गिका वसतिभेदा यतिवासयोग्यत्वेन कथिताः, ।

यथा—

" मूलुत्तरगुणविसुद्ध, थी–पसु–पडक-विवज्जियं वसहिं ।
सेविज्ज सव्वकालं, विवज्जए हुंति दोसाओ ॥ १ ॥

" विच्छिन्ना खुड्डुलिया, पमाणजुत्ता उ तिविह वसहीओ ।
पढमबीयासु ठाणे, तस्य य दोसा इमे हुंति ॥ २ ॥

तथा साध्वीरुद्दिश्योदितं—

"गुत्तागुत्तद्दारा, कुलपत्ते सत्ति–मंत–गंभीरे। भीयपरिस्समद्दविए, अज्जा सिज्जायरे भणिए॥१॥

" घणकुड्डासकवाडा, सागारियभगिणिमाइ पेरंता ।
निप्पच्चवायजोगा, विच्छिन्नपुरोहडा (पश्चाद्वाटकाः) वसही ॥ २ ॥

तदलाभे पश्चात्ता एवापवादोदिताः। यथा–द्रव्यप्रतिबद्धायामपि वसतौ कारणे न वस्तव्यं, तथा चाह—

" अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसति तो दव्वपडिबद्धे ॥ १ "

" रूवं आभरणविही, वत्थालंकारभोयणे गंधे ।
आउज्ज–नट्ट–नाडय, गीए सयणे य दव्वम्मि ॥ २ ॥ "

" अद्धाणानिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो भावपडिबद्धे ॥ ३ ॥ "

" जह कारणे पुरिसेसु, तह कारणे इत्थियासु विवसंति ।
अद्धाणवाससावय-तेणेसु य कारणे वसइ ॥ ४ ॥

तत अपोद्य किं कृतमित्यत आह–न्ययमि, संयतानां निवास इति सम्बन्धः । 'संयतानां' सुविहितानां निवासो–ऽवस्थानं न्ययमि क ? ' अगारिधाम्नि ' गृहस्थगृहे । कीदृशे ? स्त्रीणां ' संसक्तिः ' संसर्गो–रूपाद्यापातप्रत्यासत्तिः । आदिग्रहणात्पशुपण्डकादिग्रहः । ' तद् युक्तेऽपि ' तत्सहितेऽपि, आस्तां तद्रहित इत्यपि शब्दार्थः । ननु " बंभवयस्स अगुत्ती " इत्यादि वचनात्स्त्रीसंसक्तिमति—

" पसुपडगेसु वि इहं, मोहानलदीवियाण जं होइ ।
पायमसुहा पवित्ती, पुव्वभवब्भासओ तह य ॥ १ ॥ "

इत्यादि वचनात्पशुपण्डकसंसक्तिमति च परसदने वसतां संयतानां मन्मथोत्कलिकाद्यनेकदोष सम्भवात् कथं तत्र वासो नियमितः ? तत्राह–अभिहिता निशीथे प्रतिपादिता यतना स्त्रीसंसक्त्यादि सम्भवत्कन्दर्पविकारा असत् प्रवृत्तिनिवृत्तिपटीयसी तिरस्करणी कटाद्यन्तर्द्धानरूपा चेष्टा, यदाह—

" जीउ पभूयतरा, सप्पवित्ति विणिवित्तिलक्खणं वत्थुं ।
सिज्झइ विगइ जओ, सा जयणाणाए विइयम्मि ॥ १ ॥ "

' आणाए विइयंमि 'त्ति आज्ञया–आप्तोपदेशनीत्या 'विपदि' द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादीत्यर्थः । ' तत्कारिणां ' तदुद्यतानां, यथाह—

" भावम्मि ठायमाणा, पढम ठायंति रूवपडिबद्धे ।
तहियं कडगचिलिमिली, तस्सा सइठंति पासवणे ॥ १ ॥ "

" पासवणे मत्तएसुं, गणे अन्नत्थ चिलिमिलीरूवे ।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य ॥ २ ॥ "

" जहि अप्पयरा दोसा, आभरणाईण दूर उसिया ।
चिलिमिलीनिसि जागरणं, गीए सज्झाय झाणाई ॥ ३ ॥ "

" अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्व सागरिए ॥ ८ ॥"

" अद्धाणनिग्गयाई, वासे सावयभए व तेणभए।
आवलिया तिविहे वी, वसंति जयणाइ गीयत्था ॥ ९ ॥"

इयं यतना स्त्रीसंसक्तिवसतिमधिकृत्योक्ता। पशुपण्डकसंसक्तायामपि वसतौ वसताम् एतदनुसारेण सम्भविनी यतना द्रष्टव्या, तदयमर्थः—स्त्रीसंसक्त्यादि सम्भवेऽप्येवं विध यतना सावधानानां मुनीनां तज्जन्या दोषाः प्रादुष्यन्ति सर्वत्रेति, सर्वस्मिन् अपि वसत्यधिकारप्रवृत्तोद्देशकादौ। नन्वेवं यतनावतां चैत्यवासेऽपि को दोष? इत्यत आह न तु, 'तु' पुनर्भेदेऽवधारणे वा, तेन न पुनर्नैव वा 'मत' इष्टः क्वापि उद्देशकादौ चैत्यजिनगृहे निवासो निवास इत्युभयत्र योज्यते, एतदुक्तं भवति—यदि हि चैत्यवासो यतीनां क्वचिन्मतः स्यात् तदा स्त्रीसंसक्त्यादि युक्त इव गृहे वसतां, तत्रापि काञ्चित् यतनां ब्रूयात् न चैवं, ततोऽवसीयते—अगारिधाम्न्येव संयतां—यतीनां वासो, न चैत्य इति। तस्मात् न सकर्णेन तत् द्वेषो विधेय इति काव्यद्वयार्थः ॥ ९ ॥

साम्प्रतमर्थादित्रय—गोचरस्वीकार—द्वारत्रयमेकवृत्तेनाह—

प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं न तु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः, ॥ १० ॥

व्याख्या—नत्वित्यक्षमायां, न क्षम्यत एतत्, यदुत—साधूनां धनस्वीकार इति, यतो 'धनस्वीकारं' द्रव्यसङ्ग्रहं 'आहुः' ब्रुवन्ति जिनाः, अत्र जिनानाम् इदानीमतीतत्वेनोपदेशासम्भवात् 'आहुः' इत्यत्रातीतविभक्तिप्राप्तावपि यद्वर्त्तमानकथनं तत्तेषां स्वागमैः ग्रन्थसङ्ग्रहविपाकप्रतिपादकैः स्फुरद्रूपतयाऽद्य यावदनुवृत्तिभिरभेदाध्यवसायेन वर्त्तमानतयाऽवभासात् तदुपदेशदानप्रदर्शनेन शिष्याणां धनस्वीकारं प्रत्यतिजिहीर्षा यथा स्यादिति ज्ञापनार्थं, एव उत्तरपदेऽपि योज्यम्। कीदृशं? 'प्रव्रज्यायाः' सर्वसङ्गत्यागरूपाया दीक्षायाः 'प्रतिपन्थिनं' विरोधिनं, विरोधश्चात्र बध्यघातकलक्षणः तथाहि—द्रव्यसङ्ग्रहो मूर्च्छापरिणामः प्रव्रज्या च तद्विरतिपरिणामः तयो चात्र बलवता मूर्च्छापरिणामेन तद्विरतिपरिणामो बाध्यत इति तथा 'सर्वारम्भिणां' सकलसावद्यारम्भप्रवृत्तानां गृहिणां परिग्रहो मूर्च्छाहेतुः मामकत्वबुद्धिः स तथा, तं। तुशब्दोऽर्थस्वीकारात् अस्य भेदप्रदर्शनार्थः। अतिशयेन 'महासावद्यं' महासपापं 'आचक्षते' वदन्ति, जिना इति पूर्वस्माद् अनुकृष्यते। अत्र चाहुरिति क्रियाऽनुवृत्त्यैव सावद्यसिद्धावाचक्षत इति पुनरभिधानं

द्वारान्तर-निराकरणमेतदिति ज्ञापनार्थम् । अयमर्थः—गृहिपरिग्रहे हि तत्कृतकारितादि-सकलमहारम्भ-महापरिग्रह-जनितपापानुमत्यादिना यतीनामपि तत्कृतादिनिखिलपाप-प्रसङ्गोऽतः कथं तस्य नातिमहासावद्यता ?, परकृतमहापापस्यात्मन्यध्यारोपणमेव चातिशब्दार्थः । तदुक्तं-"आरम्भनिर्भर गृहस्थपरिग्रहेण, तत्पातकं सकलमात्मनि सन्दधानाः । सत्यात् पतन्त्य-ह ह ! ! तस्करमोषदोषं, माढ्यनिग्रहमयं सितभिक्षुपाशाः ॥ १ ॥" इति । अतएव गृहिपरिग्रहो यतीनां प्राश्चित्तापत्त्या श्रुते निवारितः, यदुक्तं "ओसन्न-गिहिसु लहुगे" त्यादि । एतेन गृहिस्वीकारं प्रति यत्परस्य पूर्वं हि कालस्य सौस्थ्यादिना युक्तत्वभिधानं तदपि निरस्तम् । कालदोषात् कुतीर्थिकादि-भूयस्त्वेऽपि गृहिस्वीकारमन्तरेणापि भद्रकादि श्राद्धेभ्यो यतीनामधुनाऽपि भिक्षादिप्राप्तेरुपपत्तेः, अतः केवल औदरिकत्वापत्त्याऽतीवोपहासपदं विदुषां तदर्थस्तत्स्वीकार इति । योऽपि "जा जस्स ठिई जा जस्स संतिइ पुव्वपुरिस कय मेरो सो तं अइ कमंतो अनंत संसारी उ होइ । इत्यागमोपन्यासः सोऽपि न भवदभिमतप्रसाधकः, अन्यार्थत्वात्, न हि गृहि-परिग्रहसाधकोऽयं प्रकृतागमः, किन्तु गणधरादीनां शिष्य-प्रतिशिष्यपरिग्रहविषयः, तथाहि—या काचित् अस्य गणधरशिष्यप्रतिशिष्यादेः स्थितिः—प्रतिक्रमणवन्दनादौ न्यूना-धिक-क्षमाश्रमणदानादि-लक्षणा सामाचारी, या वा यस्य सन्ततिर्गुरुपारम्पर्येणालोच-नादि दानविषयः सम्प्रदायः, या च पूर्वपुरुषकृता गणधरादिप्रवर्त्तिता 'मेरा' मर्यादा-गच्छव्यवस्था, तामतिक्रामन् अनन्तसंसारिको भवतीति, अत्र हि गणधरशिष्यादीनां स्वस्वगुरुप्रदर्शित-स्थित्याद्यतिक्रमेऽनन्तसंसारितापत्त्या प्रतिनियतगणधरपरिग्रहविषयत्व-मवसीयते, श्रावकाणां तु सर्वधार्मिकगच्छेष्वविशेषेण भक्तपानादि भक्त्यभिधानात् । धर्मगुरुषु तद्गच्छे वा विशेषेण दानभक्तिप्रतिपादनं तत्तेषां दुष्प्रतीकारतया, न तु तत् स्वीकारविषयतयेति । एवं गृहिपरिग्रहः सर्वथा यतीणां नोचित इति ५ । तथा 'चैत्यस्य' जिनगृहस्य 'स्वीकरणं' स्वायत्ततापादनं, तत्र । तुरत्रापि प्रथमद्वारादस्य भेदमाह—'गर्हिततमं' प्रत्यहं सकलचैत्यकृत्यचिन्ता तद्द्रव्योपभोगादिना लोकेऽप्यति-निन्दितं 'माठपत्यं' मठनायकत्वं 'स्यात्' भवेत् 'यतेः' मुनेः । एतदुक्तं भवति—चैत्यस्वीकारे हि यतीनां तच्चिन्तनं सकलमनुष्ठेयं, तस्य चारम्भदोषवत्तया द्रव्यस्तवत्वेन यतीनां निवारणात्, एवं च त्वमेव परिभावय मार्गानुसारित् या बुद्ध्या यन्मुनेर्देवा-धिकारं चिन्तयतः कथं माठपत्यमतिकुत्सितं न प्रसज्यत ? इति । लौकिका अप्याहुः—तथा—"यदीच्छेन्नरकं गन्तुं, सपुत्रपशुबान्धवः । देवेष्वधिकृतिं कुर्यात्—गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥ १ ॥ तथा "नरकाय मतिस्ते चेत्, पौरोहित्यं समाचर । वर्षं यावत्किमन्येन, माठपत्यं दिनत्रयम् ॥ १ ॥ ३ ॥

इदानी निगमयति–यस्मात् अर्थे यस्मात् एव–मित्युक्तक्रमेण 'व्रतवैरिणी' चारित्र–प्रतिपन्थिनी, इति हेत्वर्थे भिन्नक्रमः स चाग्रे योक्ष्यते, ममता–अर्थादिषु स्वीकारबुद्धिः, इति यस्माद्धेतोर्न युक्ता–नोपपन्ना–'मुक्त्यर्थिनां' निर्वाणाभिलाषिणां मुनिनामिति वृत्तार्थः ॥ १–१० ॥ ६ ॥

साम्प्रतम् असंयमादि–दोषप्रदर्शनेनाप्रेक्षिताद्यासन–द्वारं निराकर्त्तुमाह—

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा ॥ ११ ॥

व्या०—'भवति' जायते 'नियतं' सर्वदा 'अत्र' गब्दिकाद्यासनेऽसंयमो जीवरक्षाऽभावः, गब्दिकादेर्नित्यस्यूतत्वादिना प्रत्युपेक्षणादि अभावे विवरादिना तदन्तः प्रविष्टानां तदन्तरे चोत्पन्नानां वा त्रसादीनां तत्रोपवेशनेन विनाशसम्भवात् । भिक्षोरिति वृत्तमध्यस्थं पदं सर्वत्र सम्बध्यते । 'स्यात्' भवेत् 'विभूषा' शोभा, तत्रोपविष्टस्य जगतोऽप्युपरिवर्त्त्यहमिति विभूषा कार्यभिमानप्रवृत्तेः, विभूषा च यतीनामवश्यं वर्जनीया, यदुक्तं—"विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिकणं । संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ १ ॥" इति । 'नृपतेः' राजः 'ककुदं' चिह्नं, राजादीनामेव प्रायेण महर्द्धिकानां तत्रोपवेशन–दर्शनात् । 'लोकहासो' जनतोत्प्रासनं, चशब्दो दोषसमुच्चये । 'भिक्षोः-यतेः' अहो ! ! भिक्षोपजीविनो मुण्डिता अपि एवंविधासनेषूपविशन्तीत्यादि सेर्ष्यजनवचनश्रवणात् 'स्फुटतरो' लोकप्रकटः । इह गब्दिकादौ 'सङ्गः' परिग्रहो महाधनत्वेन मूर्च्छाहेतुत्वात् 'सातशीलत्वं' सुखलालसत्वं,' तदन्तरेण हंसरूतदिपूर्णेषु सुस्पर्शेषु तथाविधासनेषु यति अनुचिततया सिद्धान्तनिषिद्धेषूपवेशोऽसम्भवी, उच्चै–रतिशयेन, इति हेतौ । एभ्यो हेतुभ्यो 'न खलु' नैव, खलुरवधारणे मुमुक्षो–र्मोक्षार्थिनो यतेः 'सङ्गतं' युक्तियुक्तं गब्दिकाद्यासनं, उपभोगतयेति शेषः । लोकप्रसिद्धो रूतादिभृत आसनविशेषो गब्दिका । आदिशब्दात्–मसूरसिंहासनादिपरिग्रहः । एतेन यदपि "नाणाहिओ वरतरं" इत्याद्यागमबलेन प्रवचनप्रभावनाङ्गतया यतीनां गब्दिकासिंहासनादि–आसनोपवेशनसमर्थनं तदपि सुखशीलताविलसितं । तदेवं यतीनां गब्दिकाद्यासनमनुपादेयं, असंयमहेतुत्वात्, आधाकर्मिकभोजनवदिति वृत्तार्थः ॥ ११–७ ॥

साम्प्रतं सनामोच्चार–सावद्याचरिताभिधान–पुरस्सर–तद्दोषप्रदर्शनेन सावद्यं–चरितद्वारं निरस्यन्नाह—

गृही नियतगच्छभाग् जिनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥ (पृथ्वी)

व्याख्या—'गतस्य' पूर्वं प्रस्थितस्य कस्यचित् 'अनु' पश्चाद् 'गतं' गमनमन्यस्य यत्तद् गतानुगतं, तदेषामस्तीति गतानुगतिकाः। अस्त्यर्थे इक प्रत्ययस्तद्धितः। अयमर्थः—यथा गड्डरिकाः काञ्चन दिशं प्रतीत्य काञ्चिदेकामविवेकां पुरो गच्छन्तीमवलोक्य तदनुमार्गेण पाश्चात्याः सर्वा अपि तामनुगच्छन्ति, न मार्गस्य सुगम-दुर्गमत्वादिकं मृगयन्ते, तथा जिनप्रवचने सुखलोलतया कश्चिदेकं प्रवाहमार्गे गच्छन्तं वीक्ष्य तच्छीलतयाऽन्येऽपि तद् न्यायान्यायतामविचारयन्तो ये तमनुगच्छन्ति ते संसारपथाभिनन्दितत्वात् तथोच्यन्ते, तैर्गतानुगतिकै–र्लोकप्रवाहपतितै–र्यत्याभासैः 'अद' एतत्सकलजनप्रत्यक्षं गृहिनियतगच्छभजनादिकं सावद्याचारितम्, अस्य सावद्याचरितस्य अनेकविधस्यापि समुदायरूपतयैकत्व विवक्षणात्। कथमिति क्षेप "गर्भप्रकारवचनो निपातः" केन कुत्सितप्रकारेण 'असंस्तुतं' यतीनाम्–अकृत्यतया अपरिचितम् अपि अनुचितमिति यावत्। 'प्रस्तुतं' प्रारब्धमादृतमित्यर्थः। तदेव नाम ग्राहमाह–गृही श्रावको 'नियतं' गच्छान्तरपरिहारेण-एकतरं 'गच्छं' आचार्य प्रतिवद्ध यतिसमुदायं 'भजते' परिगृह्णाति स तथा, गृहिणां नियतगच्छभाक्त्वे हि यतीनामिदानीं सर्वं भक्तपानादि निराबाधं निर्वहतीति धिया तादृश गुरूपदेशेन गृही निश्चितनिजगच्छभाग् भवतीति क्रियापदं यथासम्भवमध्याहार्यं, गृहिनियतगच्छभाक्त्वञ्च यतीनां तद्गतसकलारम्भानुमत्यादिना पापसत्वप्रसङ्गेना–संस्तुतं। तथा 'जिनगृहे' देवसदने'ऽधिकारः' सकलतत्कृत्यचिन्तनं नियोगो 'यते'र्मुनेः, श्राद्धानामिदानीं तच्चिन्तानिरवधानता–व्याजेन अस्य चासंस्तुतत्वं चैत्यस्वीकारद्वार–निराकरणे प्रागेव दर्शितं। तथा 'प्रदेयं' वितरणीयं अशनादि, अशनं–भोजनमोदनादि, आदिशब्दात् पानकादिग्रहः 'साधुषु' यतिषु। अत्र च सम्प्रदानेऽपि विषयविवक्षया सप्तमी। 'यथा–तथा' येन तेन प्रकारेण–अशुद्धमपीत्यर्थः। 'आरम्भिभि'र्गृहस्थैरधुना केवलेन शुद्धेनाशनादिना निर्वाहाभावादिति, छद्मना अशुद्धाशनादि दानप्रवर्त्तनस्य चासंस्तुतत्वम् औद्देशिकभोजननिरसनावसरे प्रतिपादितं। तथा 'व्रतं' सर्वविरतिः, आदिशब्दाद्देशविरतिसम्यक्त्वारोपण तदन्तिकगमनादिग्रहः, ततश्च 'व्रतादिविधेः' सर्वविरत्यादि–अभ्युपगमस्य 'वारणं' निषेधः 'सुविहितान्तिके' सन्मुनिसमीपे अगारिणां–श्राद्धानां, एतत् देशनापरिणतान्तःकरणा न अस्मत्पार्श्वे दीक्षादिकममी गृहीष्यन्ति इति बुद्ध्या, एतस्य चासंस्तुतत्वं तेषां सुविहिताभ्यासे देशनाकर्णन–व्रतादिनिषेधेन यत्याभास उत्सूत्रदेशना असिलताऽलून–विवेकमस्तकतया, तद्धेतुकानिवारित–प्रसरदुर्गतिवज्रपाता–पातनात्, अन्यदुर्गतिपातनं च यतीनां पापादपि पापीयः। एवं च चिन्त्यमानमाधुनिकमुनीनां सावद्याचरितमागमविरुद्धतायाः कथं न जाघटीति ? इति काव्यार्थः ॥ १२ ॥ ८

इदानीं श्रुतपथा-वज्ञा-द्वार-निरासमुपक्रमते—

निर्वाहार्थिनमुज्झितं गुणलवैरज्ञातशीलान्वयं ॥ १३ ॥

व्याख्या—'निर्वाहार्थिनं' केवलोदरभरणप्रयोजनं, न तु संसारनिस्तारकांक्षिणं, उज्झितं-हीनं 'गुणलवैः' क्षमादिलेशैरपि, प्रव्रज्यायोग्यो हि पुरुषः क्षमादिगुणवान् भवति, तदुक्तं—"पवज्जाए जोग्गा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना। जाइकुलेहि विसिट्ठा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥ १ ॥ एवं पवइए च्चिय, अवगय संसारनिग्गुणसहावा। तत्तो य तविरत्ता, पयणु-कसायऽप्पहासा य ॥२॥" अयं तु क्षमादि अंशेनापि त्यक्तः। तथा 'शीलं' स्वभावः सद्वृत्तं च 'अन्वयश्च' कुलं, शीलं चान्वयश्चेति द्वन्द्वः, ततः अज्ञाता-ववििदितौ शीलान्वयौ यस्य स तथा, तं। परीक्षित-शीलकुलस्य हि प्रव्रज्यादानं शास्त्रेऽभिहितं, अविदितस्वभावो हि कषायदुष्टादिना क्वचिदपराधे गुर्वादिना शिक्षितः तमपि जिघांसति, एवमज्ञातवृत्तोऽपि तस्करादिः प्रव्रजितः तच्छीलत्वात् स-तैन्यादिकं कदाचिदारचन् गच्छमपि तुलायामारोपयति, तथा अविदितकुलो दीक्षितः कथमपि कर्मोदयात् दीक्षां जिहासुर्निरङ्कुशतया जहात्येव, कुलीनस्तु कदाचिदकार्यं चिकीर्षुरपि कौलिन्य-सततगुरुशिक्षा-निबिडनिगडनियमितो न करोत्येव। तथा 'मुण्डीकृतं' दीक्षितं 'गुरुणा' आचार्येण। तादृशि-विनेयवंशसमे वंशे जातः स तथाऽकुलोद्भव इत्यर्थः। तथा तेन तत् सजातीयविनेय तुल्या गुणा निःशीलतादयो धर्मा यस्य स तथा। ततः कर्मधारयस्तेन कर्मधारयसमासकरणेन च गुरुशिष्ययो वंशगुणात्यन्तसाजात्यं व्यनक्ति, तादृशो हि तादृशमेव मुण्डयते "समानशीलव्यसनेषु सख्य"मिति वचनात्। 'स्वार्थाय' स्वप्रयोजनाय-स्वशरीरशुश्रूषादिहेतवे, नतु संसारदुःखेभ्यो मोचयितुं, तमेवं विधं 'यदर्चयन्ति' मलयजं-घु-सण-घनसारादिना वस्त्रादिना च सततं पूजयन्ति। 'अधिक' मिति क्रियाविशेषणं-अतिरिक्तं 'देवेभ्यो' जिनेभ्योऽपि 'जनाः' श्रावकलोकाः। ननु ते तं पूजयन्तः तादृग्गुणा एव भविष्यन्तीत्यत आह-'विख्यातगुणान्वया अपि' जगती प्रतीतगाम्भीर्यौदार्य-क्षमादिगुणमहाकुला अपि, आस्तां तदितर इत्यपि शब्दार्थः। कस्मादेवमित्यत आह-लग्नोग्रगच्छग्रहा इति हेतुगर्भं विशेषणं। लग्नः-चेतसि निविष्ट 'उग्रो' दृढो 'गच्छग्रहो' गच्छप्रतिबन्धो येषां ते तथा। भवतु निर्गुणो वा गुणी वाऽयं, किं नोऽनया चिन्तया? गुरुभिरयमस्माकं प्रदर्शितः, तथा अस्मद्वंश्यैरपि अयं गुरुत्वेनाभ्युपगतः, न च वयं तेभ्योऽपि परीक्षा दक्षा, अतः तत्परिपाटीमनुरुध्यमाना नैनं हास्याम इति विहितस्वगच्छगोचरमनोऽभिनिवेशा इत्यर्थः। अथ विदुराणामपि तेषां

तादृक्षे निर्बन्धे को हेतुरित्यत आह–'महतो' अतिप्रबलस्य 'मोहस्य' मिथ्याऽभिनिवेशस्यापि तथाविधाभ्यर्चनादिकं 'जृम्भितं' लीलायितं, तथाहि–न गुरूपदर्शितत्वं निर्गुणेऽपि तच्छिष्ये अभ्यर्चनादि निबन्धनं, यदि हि गुरुः स्वाजन्यादिना निमित्तेन निर्गुणमपि स्वशिष्यं मोहाद् गुरुतया दर्शयति नैतावताऽसौ बहुमानमर्हति, विवेकिनां गुणानामेव बहुमान हेतुत्वात्, ते चेत् तत्र न सन्ति तदा किं निष्फलेन गुरूपदर्शितत्वेन ?, तथा स्ववंशजाभ्युपगमस्यापि निर्गुणगुरु बहुमानहेतुत्वे लक्ष्मीप्राप्तावपि नृणां स्वकुलक्रमागतदारिद्र्यादेरपरित्यागप्रसङ्गात् न चैवं लोक उपलभ्यते, यदुक्तं–" सुगुरुप्राप्तौ कुगुरुं, क्रमानुपक्तमपि जहति धीमन्तः। चिरपरिचितमपि नोज्झति, निधिलाभे को नु दौर्गत्यम् ॥ १ ॥" ततश्चैवं स्थिते यन्निर्गुणेऽपि गुरुत्वाभ्युपगमेनाभ्यर्चनाभि सन्धिः स महामोह महिमा एव इति वृत्तार्थः ॥ १३ ॥

एतर्हि गच्छमुद्रामुद्रिततया लोकानां सद्धर्माप्रतिपत्त्यादिना श्रुतावज्ञामीक्षमाणाः सविषादमाह—

दुष्प्रापा गुरुकर्मसञ्चयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां ॥ १४ ॥

व्याख्या–'दुष्प्रापा' दुर्लभा 'सद्धर्मबुद्धि' र्भगवत्प्रणीत–निरुप–चरित–धर्मजिघृक्षा। पारमेश्वरस्य धर्मस्य सर्वस्यापि शोभनत्वाविशेषात् किं सदिति विशेषणेनेति चेत् ? न, तस्यापीदानीं कालदोषात् अनुश्रोतः–प्रतिश्रोतोरूपत्वेन द्वैविध्य दर्शनात्, तथाहि–सुखशीलजनैः सिद्धान्तनिरपेक्ष–स्वच्छन्दमतिप्रवर्तितो बहुजनप्रवृत्तिगोचरः पन्था अनुश्रोतः, श्रुतोक्तसकलयुक्त्युपपन्नः स्वयं भगवत्–प्रज्ञापितः प्रेक्षावत् प्रवृत्तिविषयस्तु प्रतिश्रोतः, अतोऽनुश्रोतोऽव्यवच्छेदेन प्रतिश्रोतः सङ्ग्रहीतुं सदिति विशेषणं। केषां दुष्प्रापा ? 'नृणां' पुंसां 'गुरुकर्मसञ्चयवतां' महाज्ञानावरणादिसम्भारभाजां, सम्प्रति हि गुरुकर्मत्वाज्जीवानां न प्रायेण प्रतिश्रोतसि प्रवृत्तिरुपलभ्यते, यदुक्तं–" अयोग्यभावाद् गुरुकर्मयोगा–ल्लोकप्रवाहस्पृहया दुरापा। प्रायो जनानामधुना प्रवृत्तिः, पथि प्रतिश्रोतसि जैनचन्द्रे ॥१॥" जातायामपि कथञ्चित् भव्यत्वपरिपाकात् प्रादुर्भूतायामपि सद्धर्मबुद्धौ 'दुर्लभो' दुरासदः 'शुभगुरु' यथार्थसिद्धान्तप्ररूपननिपुणो लोकप्रवाहबहिर्भूतचेतोवृत्तिः कालाद्यपेक्षानुष्ठानपटिष्ठः सूरिः। अयमर्थः–सद्धर्ममनोरथभावेऽपि सदुपदेष्टृगुरुं विना नासावासाद्यते, यदुक्तं–" धम्मायरिएण विणा, अलहंता सिद्धिसाहणो। वायं। अरयव्व तुंबलग्गा, भमंति संसारचक्कम्मि ॥ १ ॥" स च प्रयेण साम्प्रतमुत्सूत्रभापकाचार्यप्राचुर्येण तथाविधो नाल्पभाग्यलभ्यः, यदुक्तं–"यस्यानल्पविकल्पजल्पलहरीयुग्युक्तयः सूक्तयः, सज्जं जर्जर-

यन्ति संसदि मदं विस्फूर्जतां वादिनाम् । यश्चोत्सूत्रपदं न जातु दिशति व्याख्यासु स प्राथते, सच्चारित्रपवित्रितः शुभगुरुः पुण्यैरगण्यैर्यदि ॥ १ ॥” प्राप्तः–समासादितः ‘स’ उदितगुणगुरुर्गुरुः ‘पुण्येन’ भवान्तरसम्भृतसुकृतेन ‘चेत्’ यदि, तथापि–शुभगुरुप्राप्तावपि ‘कर्त्तुं’ विधातुं ‘स्वहितं’ आत्मन आयतिसुखावहं कर्म सद्धर्मप्रतिपत्तिलक्षणं ‘नालं’ न समर्था ‘अमी’ पुण्यप्राप्तशुभगुरवो मर्त्याः । अथासादितसुगुरवोऽपि ते किमिति न स्वहिताय यतन्ते ? इत्यत आह–‘गच्छस्य’ स्ववंशाभ्युपेत यतिवर्गस्य ‘स्थितिः’युष्मत्कुलादृतोऽयं गच्छोऽत एनं विहाय युष्माभिः नान्यदेशना–श्रवण–सम्यक्त्व–प्रतिपत्यादिकं विधेयमिति गृहिणः प्रतीत्य लिङ्गिकृता व्यवस्था, तया ‘व्याहताः’ एवंविधशुभगुरु-प्राप्तावपि निःसत्त्वतया किमेनां गच्छस्थितिं मुञ्चामो न वेतीति कर्त्तव्यतोद्भ्रान्तान्तःकरणा । एवं गच्छस्थितिव्याहत तेषां स्वहितकरणासामर्थ्यमुपलभ्य तदुपचिकीर्षुः चेतः समुल्लसत्करुणापारावारः प्रकरणकारः प्राह–‘कं ब्रूम’ इत्यादि, अतः कं पुरुषविशेषं ‘ब्रूमो’ भणामः ?, कं ‘इह’ जगति ‘आश्रयेमहि’ सेवेमहि ? कं ‘आराध्येम’ दानादिनोपचरामः ?, एतेषां भणनादीनां मध्यात्किं ‘कुर्महे’ विदध्महे ?, यदि कस्यचिन्महात्मनो भणनेन आराधनेन वा गच्छस्थितिं विमुच्य सद्धर्मप्रतिपत्त्या एते स्वहितमाचरन्ति तदैतदपि क्रियते, परोपकृति दी–क्षित्वात्सुपुरुषाणामिति । अथवा यदाहि प्राप्तसुगुरवोऽपि तत्त्वं जानाना अप्येवं गच्छस्थित्या व्यामुह्यन्ति तदा कं ब्रूम इत्यादि, अयमर्थः–अजानानो हि तत्वं स्वयं वा कस्यचिद्भणनाराधनादिना वा तद्बोधयित्वा सद्धर्मे स्थाप्येतापि, एते च मूढा जानन्तोऽपि गच्छस्थितिव्याहता, इति कथं तत्र स्थापयितुं पार्यते ?, तत् सर्वथाऽस्मच्चेतस्यमीषां सन्मार्गव्यवस्थापने न कश्चिदुपायः प्रतिस्फुरति, अतः ‘किं कुर्महे’ इति विषादवचनं । इदमत्रैदम्पर्यं–महासत्वसत्त्वोपादेयो ह्ययं सद्धर्मः, एते चातिक्लीबाः, अन्यथा किं विदुषां गच्छस्थितिभिया ?, यदि हि लिङ्गिनः स्वलाभादिहेतुना गच्छस्थितिं दर्शयन्ति, तथापि गृहिणा परीक्षापूर्वं धर्मः प्रतिपत्तव्य इति वृत्तार्थः ॥ १४ ॥

इदानीं कस्यचिदयोग्यस्या–चार्यपदप्राप्त्या तदसच्चेष्टितप्रदर्शनेन श्रुतावज्ञां ज्ञापयन्नाह -

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—‘क्षुत्क्षामः’ बुभुक्षा क्षीणकुक्षिः गृहस्थावस्थायां, किलेति सम्भावने, कोऽपि–अज्ञातनामा‘रङ्को’ भिक्षाकोऽत् एव कुत्सितोऽनुकम्पितो वा ‘शिशुको’ बालः, “कुत्सायामनुकम्पने वा कः” । ततो रङ्कश्चासौ शिशुकश्चेति कर्मधारयः । रङ्कस्य वा

कस्यचित् शिशुक इति, प्रव्रज्य–मुण्डीभूय 'चत्ये' लिङ्गिसम्बन्धिजिनगृहे, क्वचिदनिर्दिष्टनाम्नि 'कृत्वा' विधाय लञ्चादिना कञ्चन कमपि बद्धमूलं बलीयांसं यतिं श्रावकं वा पक्षं सहायं, न तादृक्साहाय्यं विना तादृशाम्–आचार्यपदलाभसम्भवः। 'अक्षतकलिः' यत्किञ्चिन्निमित्तमात्रं प्राप्य शिक्षादिभिः सह नित्यमखण्डितकलहः 'प्राप्त' आसादित- [स्सन्]वान् सन् (?) तदिति विवकिनां विडम्बनास्पदं 'आचार्यकं' आचार्यत्वं–सूरिपदमित्यर्थः। 'चित्रं' अद्भुतमेतत् 'चैत्यगृहे' देवभवने 'गृहीयति' गृहइवाचरति, यथा निजगृहे गृही शयना–सन–पान–सम्भोग–ताम्बूलभक्षणादिकं निश्शङ्कं समाचरति, तथाऽयमपि। तथा 'निजे' स्वकीये गच्छे 'कुटुम्बीयति' कुटुम्बइवाचरति, यथाहि गृहस्थः कुटुम्बे पर्वदिनेषु दानानुप्रदानादिषु प्रवर्त्तते, एवं एषोऽपि साधुमाध्व्यादि वर्गे तथा प्रवर्त्तमान एवमुच्यते। यदि वा आचार्येण हि स्मारणवारणादिपूर्वकं प्रत्युपेक्षणप्रमार्जन-शिष्याध्ययनाध्यापनादिनोत्तरोत्तरगुणस्थानाधिरोपणेन स्वगच्छो नित्यमेवेक्षणीयः यथा दोषं च शिक्षणीय इति सिद्धान्तस्थितिः। यथा गृही द्रव्यार्जनगृहकर्मादिकरणदक्षं पुत्रादिकं बहुमन्यते तदन्यं चावमन्यते तथा गच्छमध्याद्विश्रामणादि शुश्रूषाकारिणं सदोषमपि भूषयते तदन्यं च सद्गुणमपि दूषयति, इति गृहिकुटुम्बप्रक्रियावर्त्तित्वात् तथा-अभिधीयत इति। तथा 'स्वं' आत्मानं 'शक्रीयति' शक्रमिव–पुरन्दरमिवाचरति, सहि नीचत्वात् तथाविधचैत्यद्रव्य–शिष्यश्रावकादि–समृद्धिदर्शनात् उन्मदिष्णुः शक्रोऽहमित्य-भिमन्यत इति। तथा कतिपयशास्त्रसिद्धान्तज्ञ तया 'बालिशीयति' बालिशानिव–मूर्खा-निवाचरति 'बुधान्' विचक्षणान्, अहमेव सकलशास्त्रपारगामी, किममी अज्ञा विदन्तीति। तथा अतएव विश्वं 'वराकीयति' वराकमिव–रङ्कमिवाचरति। अयमा-शयः–ईश्वरो हि कश्चित्प्रव्रज्य प्राप्ताचार्यपदः सन् निर्विवेकतया कथचित् चैत्यगृहादिषु गृहीयतीत्यादिकं विदधानोऽपि न तथा लोकानां चित्रीयते, गृहवासेऽपि लोकैस्तथा दर्शनात्, अयं तु रङ्कशिशुर्दीक्षित्वा सूरिपदासादनेन तथा कुर्वाणे जनानामुपहास-विषयतया महदाश्चर्यभाजनं, तदहो!! अत्यन्तमाचार्यादिअनुचितचैत्यगृहे गृही–यत्य-दिना असच्चेष्टितेन श्रुतपथावज्ञा पापानां मलिनयति प्रवचनमिति वृत्तार्थः॥ १५॥

सम्प्रति पुत्रपित्रादिसम्बन्धं विनाऽपि हठाल्लिङ्गिकृतलोकवाहनोपालम्भद्वारेण श्रुतावज्ञां प्रतिपादयन्नाह—

यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च॥१६॥

व्याख्या—यैः लिङ्गिभिरयं जनो न च जातो, जनेरान्तरभाविनेनर्थत्वात्–न जनितः–पित्रादिरूपतया न जन्म लंभितः। चकाराः सर्वेऽपि समुच्चयार्था अवधारणार्था

था। अथ माभूत् जातस्तथापि वर्द्धितो भविष्यति, एतावताऽपि बलात् तद्वाहनसिद्धिः अत आह-वर्द्धितो न चेति, एवमुत्तरपदेष्वप्याशङ्क्य योजना कार्या, वर्द्धितो-योगक्षेमादि-सम्पादनेन शरीर-पोषं प्रापितः। न च 'क्रीतो' मूल्यदानेनान्यस्माद् गृहीतः। अधमर्णो न च, उत्तमर्णसकाशात् उद्धारादि प्रयोगेणार्थगृहीताऽधमर्णः। अत्र च यैरिति कर्तृतया सम्बन्धानुपपत्तेर्येषामिति सम्बन्धविवक्षया यच्छब्दो योज्यः, अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति न्यायात्। तेन येषां लिङ्गिनामयं जनोऽधमर्णोऽर्थधारयिता न भवति, एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवं येषामिति सम्बन्धनीयं। तथा यैः 'प्राक्' पूर्वं दृष्टो-ऽवलोकितो न च, अयमर्थः-ये लिङ्गिभिः स्वश्राद्धा दूरदेशवर्त्तित्वात् कदाचिदपि न दृष्टास्तेऽपि स्वगच्छग्रह-ग्रस्तत्वादन्यं गुरुं वाचाऽपि न सम्भाषन्ते, तमेव गच्छगुरुं ध्यायन्तः कालमति-वाहयन्ति। 'बान्धवः' पितृव्य-भ्रातृव्यादिसम्बन्धभाग् न च येषां न च 'प्रेयान्' वल्लभतरो मैत्र्यादिसम्बन्धेन, न च 'प्रीणितो' दानज्ञानातिशयादिना तोषितः, तैरेव प्रागुक्तसम्बन्धाभावेन लोकवाहनयोग्यताविकलैर्लिङ्गिभिरेव। "एव इत्यव्ययमिह परिभवे ईषदर्थे वा"। ततश्च महापराभवोऽयं-यत् तादृशैरपि लिङ्गिभिर्लोको वाह्यत इति 'बलात्' हठेन, न तु प्रणयेन 'वाह्यते' वशीकृत्य स्वकार्याणि कार्यते 'अयं' गच्छमहाग्रहगृहीतः प्रत्यक्षोपलभ्यमानो 'जनः' श्राद्धलोको 'नस्योतो' नास्तिक इव 'पशुवत्' वृषभादि इव लिङ्गिभिस्तूक्तसम्बन्धं विनाऽपि यदेवं लोको वाह्यते तन्महा-परिभव इति, ननूक्तसम्बन्धं विनाऽपि सद्गुरुत्वेन तेषां नस्तितपशुवल्लोकाः कार्याणि निर्मापयिष्यन्ति, न ह्यनुपकृत-परहितरतानां गुरूणां धर्मदानोपकारस्य प्रत्युपकारः कर्त्तुं शक्यते, अत आह-अत्यधमाधमैरिति, लोकलोकोत्तरगर्हिततम-साध्वीप्रतिसेवा-देवद्रव्यभक्षण-सुविहितघात-शासनोड्डाहप्रभृति-भूरिपापकर्मनिर्माणात् अतिशयेनाध-मेभ्योऽपि-हीनजातीयेभ्योऽप्यधमैर्हीनैः, अतः कथमेषां सद्गुरुतया लोको वाहनीयो भविष्यति, अथैवंविधैः एभिः कथं तर्हि वाहयितुं लोकः पार्यते? अत आह-'कृतमुनि-व्याजैः' प्रपञ्चचतुरतया विश्वासोत्पादनेन मुग्धजनस्य विप्रलिप्सया रचितशान्तरूप-मासोपवासकरणादि छद्मभिः। अयमर्थः-एवमसमञ्जसकारिणोऽपि लिङ्गिनो विश्रम्भ-हेतु तथाविधयतिरूपप्रदर्शनेन सुकरपथप्ररूपणेन च सुखलुब्धान् मुग्धान् प्रलोभ्य यथेच्छं वाह्यन्तीति। अमुमेवार्थं समर्थयितुं प्रकारान्तरेण लोकवाहनप्रतीकारमसम्भावयन् सविषादं वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासमाह-'नीराजकं' विगतमहाज्ञैश्वर्य-न्यायरक्षित-प्रजादुष्ट-शिक्षाशिष्टरक्षा-विचक्षणभूपं। किं राजसहितमपि नीराजकमिव नीराजकमुच्यते? हा इति विषादे, जग-द् भुवनं, न ह्यन्यथोदिता गुणभाजि-राजनि बलाल्लोकवाहनं कर्तुं लभ्यते।

अयमाशयः–यथा सगुणं राजानं विना तद्देशः प्रतिभूप–मलिम्लुचादिभिः उपद्रूयते एवं सम्प्रति प्रौढसातिशय–बहुजनापेक्षणीय–गणधरादि पुरुषसिंहविरहाल्लिङ्गिभिरयं श्राद्धजनो वाह्यत इति वृत्तार्थः ॥ १६ ॥

अधुना लिङ्गिनां वैशसं दृष्ट्वाऽपि कदाग्रहात् तत्प्रथित–कापथात् अनिवर्त्तमानान्मूढान् दिङ्मूढत्वादिना विकल्पयन्नाह—

किं दिङ्मोहमिताः किमन्धबधिराः किं योगचूर्णीकृताः ॥ १७ ॥

व्याख्या—किं शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः, किममी जडा दिङ्मोहः–कुतश्चिद्दृष्टादि निमित्तात् प्राच्यादि दिक्षु प्रतीच्यादिभ्रमास्त मिताः प्राप्ताः। अयमर्थः–यथा दिङ्मूढाः प्राची प्रतीचीत्वेनाध्यवस्यन्तो लोकेन युक्त्या ज्ञापिततत्त्वा अपि तदध्यवसायात् न निवर्त्तन्ते, एवमेतेऽपि विदितकुपथदोपा अपि कुतोऽपि हेतोरनिवर्त्तमानाः तत्साम्यात्तथोच्यन्ते। किमन्धा–नयनहीना 'बधिरा' उपहतश्रवणाः, अन्धाश्च बधिराश्चेति द्वन्द्वः, ते किमन्धाः किं बधिरा इत्यर्थः। यथा अन्धा दृग्विकलत्वात्सम्यक्पन्थानम् अजानाना अपथमपि सत्पथतयाऽवगम्य तत्र गच्छन्तो हितैपिणा तत्त्वं ज्ञाप्यमाना अपि स्वग्रहात् न निवर्त्तन्ते, यथा बधिराः श्रुतिविकलत्वादनाकर्णयन्तो दुष्टवैतालिकादि वचो निन्दार्थः स्तुत्यर्थतयाऽवगम्य तद्दानादौ प्रवर्त्तमानास्तत्त्वं बोधिता अपि स्वनिर्बन्धात् न निवर्त्तन्ते, एवमेतेऽपि सदोषमपि कुपथं स्वगच्छादिग्रहात् निर्दोषितयाऽवबुध्य ततोऽनिवर्त्तमानास्तथोच्यन्ते। एवमुत्तरपदेष्वपि भावनीयम्। तथा किं वशीकरणादिहेतुरनेकद्रव्यमेलकः पादप्रलेपादिर्योगः, तादृगेव नयनाञ्जनादिश्चूर्णं, योगश्च चूर्णं च, ते विद्यते येपामिति विग्रहे तदस्यास्तीतीन्। अयोगचूर्णितः योगचूर्णीकृता, अभूततद्भावे च्विः। मस्तकादिषु योगचूर्णक्षेपेण वशीकृता इत्यर्थः। यथा केनापि धूर्त्तेन क्षिप्तयोगचूर्णाः पुमांस आत्मनोऽहितैपिणमपि तं हितैषितया मन्यमाना केनापि तत्त्वं प्रत्याय्यमाना अपि योगादिप्रभावेण तद्वचनकरणात् न निवर्त्तन्ते, तथैतेऽपि कुपथादिति पूर्ववत्। किं 'दैवेन' प्रतिकूलविधिनोपहताः–सद्बुद्धिभ्रंशं प्रापिताः, तेहि विधिवशेन विपर्यस्तमतित्वात्–अकृत्यमपि स्तेयादिकं कृत्यतया मन्वानस्तत्त्वं प्रतिपाद्यमाना अपि दुर्दैवमहिम्ना ततो न निवर्त्तन्ते, तथैतेऽपि। किं अङ्गेति–पार्श्ववर्त्त्यामन्त्रणं, ठकिता–मन्त्रादिप्रयोगेण, स्वायत्तीकृता, यथाहि केचन केनापि दुरमान्त्रिकेण वशीकरणमन्त्रेण तथाकृताः तद्वचनमत्यन्तं समीचीनतयाऽभ्युपगच्छन्तः तत्त्वमवगमिता अपि मन्त्रमहिम्ना न ततो निवर्त्तन्ते, एवमेतेऽपि। किंस्वेति पक्षान्तरे। 'ग्रहैः' भूतादिभिः 'अवेशिताः' कृतावेशा–विहितशरीरा-

धिष्ठाना इति यावत्, यथा भूताद्यधिष्ठिताः तदावेशात् विधेयापरिज्ञानेनाविधेयमपि पितृप्रहारादिकं विदधानास्ततो निवर्त्यमाना अपि न निवर्त्तन्ते, एवमेतेऽपि सदसद्विवेकविकलतया कुपथात् न निवर्त्तन्त इति। अत्र च दिङ्मूढादि बहुविकल्पप्रदर्शमाधुनिकश्राद्धलोकानामत्यन्तानिवर्त्त्य स्वगच्छग्रहग्रस्तत्वज्ञापनार्थं। 'कृत्वा' विधाय 'मूर्ध्नि' पादं 'श्रुतस्य' सिद्धान्तस्य, सिद्धान्तोक्तातिक्रमेण निश्शङ्कतया स्वगुरुलिङ्गिप्रवर्त्तितासन्मार्गपोषणमेव श्रुतमूर्ध्निपादकरणं, यतः "नवि किंची" त्याद्यागमशकलस्य इदमुत्तरार्द्धं–"एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं" इति। अस्य चायमर्थः–एषा भगवतामाज्ञा, यत्कार्ये सत्येन भवितव्यं, कोऽर्थः? कार्यं–ज्ञानादित्रयं, सत्यं च संयमः, यथा यथा ज्ञानादिकं संयमश्चोत्सर्पेस्तथातथा यतिना निर्मायं यतितव्यं, यदाह–"कज्जं नाणाईयं, सच्चं पुण संजमो मुणेयव्वो। जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं कुणसु ॥ १ ॥ दोसा जेण निरुज्झंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं। सो सो मुक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व ॥ २ ॥" न चागमे सुखलिप्सया किञ्चित्सूत्रितं, किं तर्हि? यावता विना संयमज्ञानादि यात्रा नोत्सर्पति तावन्मात्रस्यैव विहितनिवारणस्य निवारितविधानस्य च भगवद्भिः पुष्टालम्बनेन कादाचित्कतया तत्रानुज्ञानात्। एवं च कथं श्रुतस्याव्यवस्था? भवदसन्मार्गस्य चौद्देशिकभोजनादेः सर्वस्यापि सार्वदिकतया निस्त्रिंशत्वेन केवलसुखानुभवोद्देशेनैव प्रवृत्तेः। तथा च तस्य महासावद्यत्वेन ज्ञानादियात्रादात्रायमाणत्वात् कथं प्रामाण्यमित्याह–अकलितगुणदोषविभागः, स्वपक्षानुरागो यत्याभासानां यद्भगवन्मतस्याव्यवस्थाऽऽपादनेन स्वमतस्योत्कर्षप्रदर्शनं। किञ्च–तीर्थंकरपूर्वधरादिसातिशयमहापुरुषविरहे सम्प्रति सिद्धान्त एव नः प्रमाणं। यदुक्तं–"एवं पि अम्ह सरणं, ताणं चक्खू गई पईवो य। भयवं सिद्धं तो च्चिया अविरुद्धो इह इट्ठदिट्ठेहिं ॥ १ ॥" तस्य च प्रामाण्यानभ्युपगमे तत्प्रणेतुर्भगवतोऽप्यप्रामाण्याभ्युपगमप्रसङ्गेन भवतस्तन्मूल रजोहरणादिवेषपरित्यागापत्तिः, तथा चायं सुखाशया भवत्कल्पितः पन्थाः सर्वोऽपि विरुद्ध्यते, एवं च लिङ्गिनां श्रुतस्य मूर्ध्नि पादकरणमनुचितमपि ज्ञात्वा यदमी प्रत्यक्षगोचराः श्रावका जनाः सुदृढगच्छग्रहग्रन्थयो 'दृष्टोरुदोषा अपि' साक्षात्कृतगुरुतरपूर्वोदितकुपथापराधा अपि, अदृष्टदोषा हि विवेकिनोऽपि कुपथादपि न निवर्त्तितुमीशते, किं पुनरन्य इत्यपि शब्दार्थः। 'व्यावृत्ति' अपसरणं 'कुपथात्' कुमार्गात् 'जडाः' स्वहिताहितविवेकशून्याः 'न दधते' न चेतसि धारयन्ति न कुर्वन्तीत्यर्थः। न केवलं व्यावृत्तिं स्वयं न दधते 'असूयन्ति च' ईर्ष्यन्ति, सगुणेऽपि दोषमारोपयन्तीति यावत्। चः समुच्चये। एतां कुपथव्यावृत्तिं करोति, एतत्

कृत् तस्मै, "क्रुध–द्रुहेर्ष्येत्यादिना" चतुर्थी, महामन्त्राय कस्मैचित् कुपथव्यावृत्तिविधायिने। अत्र चोत्तरवाक्यार्थगतत्वेन प्रयुज्यमानो यच्छन्दस्तच्छब्दोपादानं विनाऽपि तदर्थं गमयति, तेनायमर्थः–तेषां हि दृष्टदोषत्वात् कुपथात् तावत्स्वयं व्यावृत्तिः कर्तुं युक्ता, अथ कुतोऽपि हेतोः स्वयं न व्यावर्त्तन्ते तदा तद्व्यावृत्तिकारिणि प्रमोदो विधातुं सङ्गतः; यत् पुनरमी द्वयमध्यादेकमपि कर्त्तुं नोत्सहन्ते, प्रत्युत कुपथनिवृत्तिविधायिनि कस्मिंश्चित् एकस्मिन्नपि क्षुद्रोपद्रवाय यतन्ते, तत्किममी दिङ्मोहमिता इत्यादि योज्यं, तेन एतदुक्तं भवति–दिङ्मूढादयो हि हितैषिणा व्यावृत्तमाना अपि दिङ्मोहत्रादेर्व्यावृत्तिमात्रमेव न कुर्वन्ति, एते तु न केवलं कुपथात् न व्यावर्त्यन्ते यावता कुपथव्यावृत्तिकारिणेऽसूयन्त्यपीति तेभ्योऽप्यमी कुत्सिता इति वृत्तार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतं लिङ्गिदेशनया श्राद्धैरविधिकृतस्य जिनमज्जनस्यापि दुर्गतिपातहेतुत्वप्रतिपादनद्वारेण श्रुतपथावज्ञां दर्शयन्नाह—

इष्टावाप्तितुष्टविटनटभटचेटकपेटकाकुलं ॥ १८ ॥

व्याख्या—'जैनमज्जनं' भगवद्बिम्बस्नात्रं कर्तृ 'जनयत्येव' सम्पादयत्येव, नतु कदाचित् न जनयत्यपीत्येवकारार्थः। 'अघपङ्के' पापकर्दमे 'निमज्जनं' ब्रुडनं कर्म, तत्कर्त्तृणामितिशेषः। अथ कथं पुण्याय विधीयमानं जिनस्नात्रं पापपङ्कनिमज्जनाय प्रभवति इति आह–'अविधिना' सिद्धान्तोक्तक्रमविपर्ययेण, प्राक्तनविशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या रात्राविरर्थः, सिद्धान्ते हि रजन्यां जिनस्नात्रं निवारितमतस्तत्र तत्कुर्वतां कथं न पातकमित्यर्थः। अथ कं दोषमभिप्रेत्य सिद्धान्ते रात्रिस्नात्रनिवारणमिति दोषप्रदर्शनाय हेतुगर्भं विशेषणत्रयं मज्जनस्याह–इष्टावाप्ति इत्यादि, इष्टाया–वल्लभाया मज्जनदर्शनमिषेणागताया 'अवाप्ति'मेलकस्तया तुष्टा–निरशङ्कमत्राद्य नः सुरतलीला प्रवर्त्स्यतीति धिया मुदिता 'विटा' वेश्यापतयः 'नटा' नाटकाभिनयकलोपजीवितः 'भट्टा' शस्त्रादिकलाजीविनः 'चेटका' मासादि–नियमितवृत्तिग्राहिणः, एषां 'पेटकं' समुदायस्तेना–'कुलं' क्षुभितं, प्रेयसी प्राप्त्या सात्त्विकभावेनाकुलीकृतविटादिजनाकीर्णत्वात् मज्जमप्युपचारादाकुलं, तथा 'निधुवनविधिनिबद्धदोहदा' मोहनविलसितविहिताभिलाषाः या 'नरनार्यः' पुरुषयोषिताः तासां 'निकरेण' निचयेन 'सङ्कुलं' व्याप्तं। नारीणां प्रायो निधुवनार्थमेव मज्जनावलोकनछद्मना तत्र गमनात्, तथाविधव्याजमन्तरेण रात्रौ तत्राप्यागमनासम्भवात्, तथाविधव्याजेन चान्यत्र गन्तुमशक्तत्वात्। अत एव 'रागः' कश्चित् परस्त्रीं प्रत्यभिष्वङ्गः 'द्वेषः' स्वस्त्रीमन्येन सह सङ्गच्छमानां पश्यतः तज्जिघांसा 'मत्सरः' कश्चित्सौभाग्येन कयाचित्

संङ्घटमानमालोकयतः स्वयं च तां कामयमानस्य तत् सौभाग्यव्ययेच्छा 'ईर्ष्या' स्वप-ल्लभामन्येन सार्द्धं संलपन्तीमीक्षमाणस्य असहिष्णुता, ततो रागश्चेत्यादि द्वन्द्वः,ताभिः 'घनं' सान्द्रं,अत्रापि–रागादिमल्लोकघनत्वात् मज्जनमप्युपचारात् तथा,कामुकलोकमेलके हि जिन-गृहेऽपि निशायां रागादय एवोज्जृम्भते, न स्वल्पापि धर्मभावना, तस्मात् दिन एव स्नात्रं धर्मार्थिनां श्रेयो,न रात्राविति। अत्र कैश्चित् उच्यते–रात्रिस्नात्रे न कश्चिद्दोषः,जिनजन्ममज्ज-नस्य शक्रेण तथाविधानात्, तथाहि–सर्वेऽपि जिनेन्द्रा रात्रियामद्वयसमय एव जायन्ते, तदैव सुरेन्द्रा मेरुगिरिशिखरं नीत्वा तान् स्नपयन्तीति श्रूयते, तस्य च तथा स दोषत्वे शक्रः तथा न कुर्वीत, तस्मादिन्द्रा चरितप्रामाण्यात् निशायामपि स्नपनं विधातव्यमिति चेत् न शक्रो जिनमज्जनं मेरौ करोतीति मन्यामहे, न तु यामिनीयामद्वितीय इति, मेरु-शिखरे सूर्योदयास्तमयाभावेन रात्रिंदिनव्यवहाराभावात्। कथं तर्हि प्रकाशाभावे तत्रे-न्द्राणां जिनमज्जनादिविधिरिति चेन्न, रत्नशृङ्गस्य निरस्ततमःस्तोममयूखद्योतेन विमल-माणिक्यशिलामरीचिनिचयेन देवमहिम्ना च निरन्तरं भासुरत्वात्। एवं च इन्द्राचरिता-वष्टम्भेन कथं रात्रिस्नात्रं समर्थ्यमानं सङ्गच्छते?, श्राद्धानां त्रिसन्ध्यं जिनपूजाया दिन-कृत्यत्वेन सिद्धान्तेऽभिधानात्। ततश्च " वित्ति–किरिया विरुद्धा " इत्यादेरयमर्थो–यः प्रभातादि–सन्ध्यायां वृत्तिनिमित्तवाणिज्यादि व्यग्रत्वात् कथञ्चित् देवपूजायां न व्याप्रियते स दिनमध्ये एव मुहूर्त्तादिना सन्ध्यातिक्रमेऽप्यपवादतः पूजां करोतु, न पुनरस्यायमर्थो, यदुतापवादेन रात्रौ करोति, दिनकृत्यता हानिप्रसङ्गात् प्रभूतायतनाकरणादि दोषप्राप्ते-श्चेति। एतेन रात्रौ जिनसदने बलि-दान-नन्दि-प्रतिष्ठादि-विधानमपि निरस्तं, प्रायो मज्ज-नेन समानयोगक्षेमत्वात्, निशिस्नात्रोक्तदोषाणां बलिदानादावपि सम्भवात्। तथाहि–दीक्षाद्यर्थं नन्दिकरणं, दीक्षा च स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातविरतिलक्षणा, रात्रौ च प्रकाश-निमित्तज्वलितभूरिदीपरूपतेजस्कायिकजीवानां स्वयं शरीरस्पर्शनेन व्यापादनात्, प्रदी-पेषु च सततं निपततां पतङ्गादि जन्तूनां व्यापत्तिभावात्। कीदृशी दातृगृहीत्रोः सर्वविरतिः?। शिष्यस्य दीक्षाप्रथमक्षणादारभ्य प्राणातिपातप्रवृत्तेः, दीक्षादातुश्च दोष-सङ्ख्याऽपि वक्तुं न शक्यते, तच्छिक्षया तावज्जन्तुजातव्याघातप्रवृत्तेः। तदहो!! मूढा! एतावन्तं पापकलापमात्मन्यारोपयन्तो भाविभवभ्रमणात् मनागपि न बिभ्यन्तीति। किञ्च-दिवसे दीक्षादिलग्नबलाभावे रात्रौ च तद्भावे विहारक्रमवदपवादेन कदाचिद्रात्रावपि नन्दि विदधतां को दोषः? इति चेन्न, विहारक्रमस्यापवादेन रात्रावपि प्रतिपादनात् तत्र कदाचित् तत्करणं युक्तं, नन्दिविधानस्य चापवादेनाप्यागमे रात्रावनभिधानात् कथं तद्वि-धानं तत्र सङ्गच्छेत्?। किञ्चापवादिक कृत्यानां रात्रिविहारक्रमादीनां सर्वेषां प्रायश्चित्त-

नभिहितमागमे, न च निशि नन्दिविधानस्य ततोऽवगम्यते-नास्त्यपवादेनापि रजन्यां नन्दिविधानं, एवं निशि जिनप्रतिमा प्रतिष्ठायामपि सकलमेतद् दूषणजातं विविच्य वाच्यं, तदुक्तं-" प्रादुष्पद्दोषपोषायां, दोषायां साधयन्ति ये। जिनबिम्बप्रतिष्ठां ते, प्रतिष्ठां स्वस्य दुर्गतौ ॥ १ ॥ " तदेवं दोषकलापदर्शनाद्रात्रौ मज्जनादि विधायिनां पापपङ्के निमज्जनं भवतीति व्यवस्थितं। इदं वक्ष्यमाणं च वृत्तद्वयं द्विपदीच्छन्द इति वृत्तार्थः ॥ १८ ॥

साम्प्रतं प्रसङ्गेन मज्जनात् अन्यस्यापि धर्मकृत्यस्य संसारनिमित्तत्वं प्रकटयन्नाह-

जिनमतविमुखविहितमहिताय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—' जिनमतविमुखविहितं ' भगवदागमवैपरीत्य-निर्मितं ' मज्जनमेव ' स्नपनमेव ' केवलं 'एकं ' अहिताय ' संसाराय न भवति-स्नानमेवैकं अविधिविहितं संसारकारणमिति नास्ति, किन्तु किं तर्हि ? तप्यते धातवोऽशुभकर्माणि चानेनेति तपोऽनशनादि, तथा ' चरित्रं ' सर्वविरतिः ' दानं ' पात्रेषु न्यायार्जितशुद्धभक्तादिवितरणं, आदिशब्दात् विनयवैय्यावृत्त्यादिग्रहः, ततस्तपश्चेत्यादि द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। ततश्चैवमाद्यप्यनुष्ठानं जिनमतवैपरीत्य विहितं, न केवलं मज्जनमित्यपि शब्दार्थः। ' न खलु ' नैव 'जनयति' सम्पादयति 'शिवफलं' मुक्तिरूपं फलं। अथ कस्मादेवं ? इत्यत आह-'हि' यस्मात् 'अविधिविधिक्रमात्' सिद्धान्तानुक्त-तदुक्तप्रकारेण ' जिनाज्ञाऽपि ' भगवच्छासनोक्तानुष्ठानमपि ' अशुभशुभाय ' अश्रेयः श्रेयसे, द्वन्द्वैकवद्भावादत्रैकवचनं। ' जायते ' सम्पद्यते, यथासंख्येयनात्र योजना, तेनायमर्थः-किल जिनपूजा-तपःप्रभृतिप्रवचनप्रसिद्धं जिनाज्ञा, भगवता निःश्रेयससाधनत्वेनाज्ञापितत्वात्। तथा च तदप्यविधिक्रमेण-"काले सुइभूएणं" इत्याद्युक्तविधिविपर्ययेण क्रियमाणमशुभाय भवति, विधिक्रमेण तु सन्ध्यात्रया-राधनशुचिभूतत्वादिना तदेव शुभाय। विध्यविधिभ्यां भगवदाज्ञाऽऽराधना-नाराधनयोरेव मोक्षसंसारफलत्वात्। किं पुनरित्यादि वाक्यं काक्वा योज्यं। अत्र च किमित्याक्षेपे, पुनरिति वाक्यभेदे, इति प्रकरणे। तेनैषा प्रकृतारात्रिमज्जनादिका क्रिया ' विडम्बनैव ' प्रवचनापभ्राजनैव-लोकोपहासास्पदं, न त्वेषा जिनाज्ञाऽपीत्येवकारार्थः। ' अहितहेतुः ' संसारनिबन्धनं ' न प्रतायते ' न विस्तार्यते, किन्तु अवहितहेतुत्वेन प्रख्याप्यते एव, इदमुक्तं भवति-जिनाज्ञाऽपि तपःप्रभृतिका आपवादिका-धाकर्मभोजनादिका वा यदा अविधिना विधीयमाना भवफला तदा किं पुनरस्या विडम्बनायाः-सर्वथा जिनवचनबाह्याया रात्रिमज्जनादिकाया वक्तव्यं ? सुतरामेषा भवहेतुरेव, अतोऽहितहेतुत्वेन

प्रख्याप्यते येन सा तथा प्रख्याप्यमाना कस्यापि पुण्यात्मनः स्वतो निवर्त्तनाय प्रभव-तीति वृत्तार्थः ॥ १९ ॥

इदानीं निर्वाणकारणमपि निसर्गेण जिनगृहादि निर्मापणं गृहिणः कुमतादि निर्देलेशस्याप्यनुबन्धात् भवहेतवे भवतीत्येतत् प्रदर्शनायाह—

जिनगृह–जिनबिम्ब–जिनपूजन जिनयात्रा–दि विधिकृतं ॥ २० ॥

व्याख्या—'जिनगृहं' जिनभवनं 'जैनबिम्बं' भागवती प्रतिमा 'जिन-पूजनं' भगवत्प्रतिमायाः कुसुमादिभिः अभ्यर्चनं 'जिनयात्रा' जिनान् प्रतीत्या–ष्टाह्निका-कल्याणक–रथनिष्क्रमणादि महामहकरणं, ततो जिनगृहं चेत्यादिद्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, एवमुत्तरपदयोरपि । आदिग्रहणात् जिनवन्दनप्रतिष्ठादिग्रहः । इह चासकृज्जिनपदोपादानं भगवतोऽत्यन्तभक्तिगोचरतया तदुद्देशेन विधिना जिनगृहनिर्माणस्य परममुक्त्यङ्गत्व-ख्यापनार्थं, एवमादि धर्मकर्मजातमिति शेषः । 'विधिना' श्रुतोक्तेन प्रकारेण 'कृतं' निर्मापितं । तथाहि–जिनगृहनिर्मापणविधिः शुद्धभूमिपरिग्रहादिकः, जिनबिम्बे विधिना निर्मापिते प्रतिष्ठापिते चायं पूजनविधिः–सन्ध्या त्रये विधिना शुचिर्भूत्वा भगवत् बिम्बं श्रद्धावान् पुष्पादिभिरर्चयति, तथा तत्र च कल्याणकादिदिनेषु यात्रा प्रस्तूयते, तत्र चायं विधिः–यथाशक्ति दान–तपश्चरण–शरीरविभूषा–जिनगुणगान–वादित्रादिकरणं । तथा 'दानं'अभयदानादि 'तपो'ऽनशनादि 'व्रतानि' स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि । आदिशब्दात्–विचित्राभिग्रहः । ततो धनं चेत्यादि द्वन्द्वः । तथा 'गुरोः'धर्माचार्यस्य 'भक्तिः' शुश्रूषा आगच्छदभिमुखगमनोत्थिताऽभ्युत्थान–गच्छदनुगमन–विश्रामणा–विशुद्धभक्तपानादि दानचित्तानुरंजनादिकाः। 'श्रुतपठनं' सिद्धान्ताध्ययनं। आदिग्रहाणत् तदर्थश्रवणमननादिग्रहः। एतच्च विवेकिना विशेषेण विधेयं, एतत्पुरस्सरत्वात्सकलप्रागुक्त-जिनगृहादिकरणविधिप्रतिपत्तेः । यदाह–"अन्नेसि पवित्तीए, निबंधणं होइ विहिसमारंभो । सो सुत्ताउ नज्जइ, तो तं पढमं पढेयव्वं ॥ १ ॥ सुत्ता अत्थे जत्तो, अहिगयरो नवरि होइ कायव्वो । इत्तो उभयविसुद्धत्ति, सुयगं केवलं सुत्तमिति ॥ २ ॥" एतदन्तरेण समस्त-स्यापि क्रियाकलापस्यान्धमूक साम्यापत्तेः। ततो गुरुभक्तिश्चेत्यादि द्वन्द्वः, चः समुच्चये । आहतं सबहुमानं, न त्ववहेलया । एतत्सकलं जिनगृहादि–दानादि–गुरुभक्त्याद्यनुष्ठानं, किमित्याह–'स्याद्' भवेत् इह प्रवचने, अनभिमतकारीति सम्बन्ध। कस्मात् अत आह–कुमतेत्यादि, तत्र 'कुमतं' परतिर्थिसमयाभिहितं क्रियाकदम्बकं श्राद्धचन्द्रसूर्योपराग–

सङ्क्रान्ति-माघमाला-प्रपादानादि, कुगुरु-उत्सूत्रदेशनाकरणप्रवणः सन्मार्गदूषणपरायणो धार्मिकजनक्षुद्रोपद्रवतत्परः सुखलोलतया यतिक्रियाविकलो जनविप्रतिलिप्सया दुष्कर-क्रियानिष्ठोऽपि वा लाभपूजाख्यातिकामः कुत्सित आचार्यः, कुग्राहः-सिद्धान्तबाह्य-स्वमतिकल्पित-स्वाभ्युपेतासत्पदार्थममर्थ-नानुष्ठानगोचरो मानसोऽभिनिवेशः,कुबोधो-ऽन्यथा व्यवस्थितस्य भगवदागमार्थस्याज्ञानाद्विशिष्टसम्प्रदायाभावाद्वाऽन्यथा परिच्छेदः, कुदेशना-श्रुतोक्तार्थानां संशयादज्ञानात् मिथ्याऽभिनिवेशाद्वा वैपरीत्येन प्ररूपणं, अत्र च कुगुरुग्रहणेन कुदेशनालाभेऽपि पृथगुपादानं तस्याः सकलेतरदोषेभ्यो महत्त्वज्ञापनार्थं, ततः कुमतं चेत्यादि द्वन्द्वः, तासामंशो-लेशस्तस्मात्, आस्तां कुमतादिभ्यः समग्रेभ्यः, किन्तु तेषामंशमात्रादपि ' स्फुटं ' व्यक्तं निश्चितमिति यावत्, अनभिमतकारि-अनिष्टविधायि दुरन्तसंसारकान्तारनिरन्तरपर्यटनकारणमित्यर्थः। ननु कथमेतानि गरीयांसि धर्मकृत्यादि लेशमात्रेणापि प्रतिरुध्यन्ते ? नहि मृणालतन्तुना दन्तिनः प्रतिबध्धुं पार्यन्त इत्याशङ्क्य विवक्षितार्थप्रसाधनानुगुणमुपमानमाह-' वरभोजनमिव ' स्निग्ध-मधुर-सुस्वादजेमनमिव, इवेत्युपमानद्योतकमव्ययं। 'विषलवनिवेशतो' गरलकणप्रक्षेपात् । अयमर्थः-ईदृशी हि विषकणस्यापि पारिणामिका शक्तिर्यया हृद्यमपि बह्वपि भोजनं क्षणादेव सकलमसौ स्वात्मभावेन परिणमयति, तथा परिणमितं च तत् भुज्यमानमपायाय जायते यथा, तथा कुमतादिदेशस्यापि मिथ्यारूपतत्त्वात्-एवंविधो महिमा, येन महियोऽपि जिनगृहविधानादि धर्मकर्मस्वस्वरूपतया भावयति, तद्भक्ति च तद्विधीयमानमपि संसाराय सम्पद्यत इति, अत एव सम्यक्त्वशुद्धिहेतवे कर्त्तव्यतया अभिहितान्यप्येतान्यसमञ्जसवृत्त्या क्रियमाणानि तदभावापादकत्वेन श्रूयन्ते, यदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः-" पाएणणंत देउल जिणपडिमा कारिया उ जीवेहिं । असमंजसविचीए, न य सिद्धो दंसणलवो वि ॥ १ ॥ " तदेवं विषलवसंवलितभोजनोपमानेन जिनगृहादिविधानस्य कुमतादि लेशसंस्पर्शिनोऽप्यभिमतकारित्वं व्यवस्थितमिति वृत्तार्थः ॥ २० ॥

अधुना मुग्धजनाकर्षणनिमित्त-जिनबिम्बप्रदर्शनादि द्वारेण लिङ्गिनां लोकप्रतारणं दर्शयन्नाह—

आक्रष्टुं मुग्ध-मीनान् बिडिश-पिशितवत्-बिम्बमादर्श्य जैनं ॥ २१ ॥

व्याख्या—आक्रष्टुं मुग्धमीनान् जैनबिम्बमादर्श्य नाम जैनैर्जनोऽयं वञ्च्यते इति सम्बन्धः। तत्राक्रष्टुमिति स्ववशमानेतुं, न तु पुण्यमर्जयितुं, मुग्धा-हेयोपादेयविचार-

शून्यतया धर्मश्रद्धालवः त एव जडप्रकृतितया स्वहिताहितपरिज्ञानवैकल्यसाधर्म्यात् मीनामत्स्यास्तान् 'बिम्बं' प्रतिमां 'जैनं' भागवन्तं 'आदर्श्य' दर्शयित्वा, यथा–भो भव्याः ! ऐहिकामुष्मिकसुखविधानदक्षमिदमर्हद्बिम्बं, ततः पूजयत भक्त्येति सामान्यतोऽथवा भवत्पूर्वजैः एतद्बिम्बमार्हतं निर्मापितं, ते चेदमेव प्रत्यहं नियमेनापूपुजन्, ततो भवद्भिरपीदमेव विशेषेण पूजनीयं, तथाऽर्हद् बिम्बनिर्मापणमेव सम्प्रति भवजलधिनिपतज्जन्तुतारणायालमिति भवद्भिः स्वश्रेयसे नवीनं भगवद्बिम्बं स्वनाम्ना विधापनीयमिति विशेषतो मुग्धजनपुरतः प्रज्ञाप्येत्यर्थः । किल यतिना देशनाद्वारेण जिनबिम्बार्चनादे–गृहिपुरः फलमुपवर्णनीयं, तत्फललिप्सया तदनुसारेण गृहिणः स्वयमेव तत्करणादौ प्रवृत्तेः, न तु साक्षात् तन्निर्माणनिर्मापणयोरुपदेशो दातव्यः तदुपदेशस्य सावद्यतया यतेर्निषेधात्, लिङ्गिनस्तु कथमाजन्मामी गृहिणोऽस्माकं वश्या भविष्यन्तीति धिया ऐहिकमेव स्वार्थं केवलं चिन्तयन्तो धूर्त्ततया पूर्वपुरुषसम्बन्धितादि क्रमेण मुग्धेभ्यो जिनबिम्बमादर्शयन्ति, ते तु मुग्धत्वात् तदाशयमनवबुध्यमाना ऋजुश्रद्धालुतापूर्ववंश्यस्नेह–स्वकारित–ममतादिना तत्र जिनबिम्बादौ नित्यं द्रव्यं व्ययंते, लिङ्गिनश्च तदुपयुञ्जते स्वेच्छयेति भवति तदाकर्षणार्थं लिङ्गिनां जिनबिम्बदर्शनमिति । किमिवेत्याह–'बिडिशं' मत्स्यवेधनं, तदग्रे मत्स्यविलोभनाय स्थापितं 'पिशितं' मांसं, तद्वत् । वतिरुपमाने, तदिव । यथा धीवरा मत्स्याकर्षणाय बिडिशाग्रे पिशितं स्थापयन्ति, ते च तल्लोलतया स्वापायमागामिनमविभावयन्तो गम्भीरादपि नीराशयान्निर्गत्य मुग्धत्वात् तत्र विलीयमाना बध्यन्ते, एवं लिङ्गिनोऽपि मुग्धजनानां स्ववश्यताविधानायोक्तविधिना भगवद्बिम्बमादर्शयन्ति, न तु संसारनिस्तरणाय । ननु कथं जिनबिम्बबिडिशपिशितयोरुपमानोपमेयभावः ? समानगुणयोरेवोभयोरलङ्कारग्रन्थेषूपमानोपमेयभावप्रतिपादनात्, महाकविकाव्येषु तथैव दर्शनात्, अत्र तु जिनबिम्बस्य सकलत्रिभुवनातिशायिनः सर्वोपमातीतत्वात–अत्युत्तमवस्तूपमायोग्यत्वाद्वा, बिडिशपिशितस्य च सर्वात्यन्तहीनत्वात्कथं तेनोपमा ?, उत्तममात्रस्यापि हीनमात्रेणाप्युपमानोपमेयभावो न युक्तः, किम्पुनः सर्वोत्तमस्यात्यन्ताधमेन ?, एवं च जिनबिम्बस्य बिडिशपिशितेनोपमानोपमेयभावप्रदर्शने कवेर्महापापप्रसङ्गः, तत्सर्वथा नायमुपमानोपमेयभावो घटां प्राञ्चतीति त(न्वे)न्न । लोकाकर्षणेन स्वनिर्वाहहेतोर्लिङ्गिपरिगृहीतस्य जिनबिम्बस्योत्तमस्याप्यसदुपाधिवशात् दुष्परिवारपरिवृतराजादेरिव वाञ्छितफलासाधकत्वात् हीनताऽध्यारोपेणोपमानेन साम्यापादनादुपमानोपमेयभावोपपत्तेः । अत्र चापवित्रेण बिडिशपिशितेनोपमानं लिङ्गिपरिगृहीतस्य जिनबिम्बस्यात्यन्तहेयता ज्ञापनार्थं, आगमेऽ-

तिहयस्याधाकर्मादेः गोमांसादिनैवोपमानोपमेयदर्शनादिति युक्तमुक्तं 'त्रिदिशपिशितवद्-'विम्बमादर्श्यजैन'मिति। साम्प्रतं प्रकृतमुपक्रम्यते-तथा 'तन्नाम्ना' जिननामधेयेन-भगवद्भाण्डागारनिमित्तमेते निर्माप्यन्ते, नास्मन्निमित्तमिति व्यपदेशेन 'रम्यरूपान्' रुचिररचनया दृष्टबन्धनया च मनोहराकारान् 'अपवरका' अन्तर्गृहा 'मठा' निलय-विशेषास्ततो द्वन्द्वस्तान् 'स्वेष्टसिद्ध्यै' वयमेवाजन्मसुखेन वत्स्याम इत्यात्माभिमतनिष्प-त्तये 'विधाप्य' कारयित्वा, ते हि शठाः स्वनिमित्तमपवरकादीन् निष्पादयन्ति मुग्धाश्च जानते-जिननिमित्तमित्यहो ! ! एतेषां जिनभक्तिरिति, तेषु ते रज्यन्ते तैश्चोपजीव्यन्त इति वञ्चनप्रकारः। तथा 'यात्राः' पित्राद्युद्देशेन भवद्भिरत्राष्टाह्निका कर्त्तव्या, अमुष्मिन्त्रा मामादावमुना श्राद्धेन श्रीमत्यत्र देवगृहे यात्राः कृतास्तस्माद्भवद्भिरपि तथैव विधेया। तथा 'स्नात्रं' श्राद्धपक्षादिषु पित्रादेः श्रेयसे युष्माभिरत्र स्नात्रं कर्त्तव्यमित्युपदेशव्याजेन यात्रास्नात्रविधापनं, ततो द्वन्द्वः। आदिशब्दाच्छ्रुतानुक्तपर्वग्रहः। तदादय 'उपाया' मुग्धविप्रलम्भनप्रकारास्तैः। ननु कथमेवंविधयात्रादीनां मुग्धजनप्रतारकत्वं ? यावता यथातथा भगवत्पूजायाः कुशलानुबन्धहेतुत्वादिति चेन्न, एवं हि लोकोदाहरणप्रामाण्येन भगवत्पूजाविधाने भगवतोऽप्रामाण्यो(प)पादनेन मिथ्यात्वादिप्रसङ्गात्, यदुक्तं-"जिट्ठम्मि विज्जमाणे, उचिए अणुजिट्ठपूअणमजुत्तं। लोगाहरणं(च) व तहा, पयडे भगवंतवयणम्मि ॥ १ ॥ लोगो गुरुतरगो खलु, एवं सइ भगवओवि इट्ठोत्ति। मिच्छ-त्तमो य एवं एसा आसायणा परमा ॥ २ ॥" तथा 'नमसितकं' उपयाचितकं-भवता-मिदानीमीदृगुपद्रवः समुपस्थितः तस्माद्भवद्भिस्तन्निवृत्तये जिनगोत्रदेवताऽम्बिकादिशा-सनसुराणामियद्द्रव्यमेषणीयमिति गृहिणः प्रतिजिनाद्युद्देशेन वित्तव्ययविधापनमिति यावत् 'निशाजागर' उपसर्गवर्गोपशमनाय प्रवचनदेवतादीनां पुरतो बल्यादिस्थापन-गीत-वाद्यलास्यपुरस्सर सकलरात्रिजागरणं। ततो द्वन्द्वः। आदिग्रहणादन्येषामपि शान्तिकपौष्टिकानां सङ्ग्रहः। तदादीनि 'छलानि' छद्मानि-लोकोपजीवनार्थमागमान-भिहितत्वेन विलोभननिमित्तानीति यावत्, तैः करणभूतैः, चशब्द उक्तवचनप्रकार-समुच्चये। श्रद्धालु-विवेकविकलधर्मेच्छावान्, विवेकिनो हि प्रायेण नैवंविधैः प्रतारयितुं पार्यन्ते। 'नामतः' संज्ञामात्रेण जैनै-र्जिनदेवतैर्न तु क्रियया, भ्रष्टाचारत्वात्तेषां, तेन लिङ्गिभिरित्यर्थः। 'शठैः' प्रपञ्चप्रपञ्चनचतुरैः, छलित इवेत्युपमानं, यथा 'छलितः' शाकिन्यादिभिर्वशीकृतः तथाविधचैतन्यराहित्यात्सुखेन वञ्चयितुं शक्यते, तथाऽयं-एष 'जनः' श्राद्धलोको हा !!! इति विषादे 'वञ्च्यते' विप्रलभ्यते, महानयम् अस्मच्चेतसि विषादो-यद्धर्मार्थी लोको धूर्त्तैः स्वार्थं वञ्चयित्वा दुर्गतौ पात्यत इति वृत्तार्थः ॥ २१ ॥

इदानीम् अत्युच्छृङ्खलानामपि नाम जैनानां दशमाश्चर्यानुभावात् अभ्युदयं स्व-विषादपुरस्सरं दर्शयन्नाह—

सर्वत्राऽस्थगिताश्रवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः, ॥ २२ ॥

व्याख्या—'सर्वत्र' लोकसमक्षमसमक्षं च, आश्रवति-सञ्चिनोति जीवः कर्मैभिरित्याश्रवाः पञ्च प्राणातिपातादयः ततश्चास्थगिता-अनिरुद्धा आश्रवा यैस्ते तथा। स्वविषयेषु आत्मग्राह्येषु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शशब्देषु 'व्यासक्तानि' उपभोगप्रवणानि 'सर्वेन्द्रि-याणि' सकलकरणानि-चक्षु-रसन-घ्राण-त्वक्-श्रोत्राणि येषां ते तथा, यतिना हि निगृहीतेन्द्रियेण भवितव्यं, अन्यथा प्रव्रज्याया जीवनमात्रतापत्तेः। तथा गौरवाणि' आत्मन्युत्कर्षप्रत्ययहेतवोऽध्यवसायविशेषास्तानि च ऋद्धिरससाताऽतिरेक-हेतुकत्वेन कारणे कार्योपचारात्-रिद्धिरससातसंज्ञान्येव त्रीणि, तैश्चण्डाः-तत्साहाय्येनोद्धुरा दण्डाः दण्ड्यते-दुर्गतिपातेन दुःखं स्थाप्यते आत्मा अमीभिरिति दण्डा-अकुशलमनोवाक्कायाः त एव देहिनामुत्पथप्रवर्त्तकत्वाच्चपलत्वाच्च 'तुरगा' अश्वाः ततश्च 'वल्गतो'ऽनियमिततया यदृच्छया प्रसरन्तो गौरवचण्डा दण्डतुरगा येषां ते तथा 'पुष्यन्तः' प्रबलीभवन्तः कषायोरगा येषां ते तथा। यतीनां हि श्रामण्यवैफल्योत्पादनात् कषायाः कर्तुं न युज्यन्ते। एवं तावत्पञ्चाश्रवविरमण-पञ्चेन्द्रियनिग्रह-दण्डत्रयविरति-कषायचतुष्टयजयलक्षणसप्तदशविधसंयमाभावेन तेषां लोकोत्तरबाह्यत्वं प्रदर्श्य इदानीं लोकलोकोत्तरबाह्यत्वमपि दर्शयतीत्याह-'सर्वाकृत्य कृतोऽपि' लोकलोकोत्तरविरुद्धाब्रह्मसेवनपुष्पफलाद्युपभोगाद्यसदाचारकारिणोऽपि नामजैना इति प्राकृतं 'कष्टं' महद्दुःखमेतत् 'अधुना' सम्प्रति 'स्थित्वा' आरुह्य 'सन्मुनिमूर्द्धसु' सुविहितमुनिमस्तकेषु, प्रतिपदमसूयया सुविहितानामसद्दोषारोपेण लाघवोत्पादनमेव हि तेषां तन्मूर्द्धस्ववस्थानं। 'उद्धतधियो' नास्त्यस्मत्समो जगति सम्प्रति कश्चिदिति दर्पाध्मातबुद्धयः 'तुष्यन्ति' सुविहितं मन्या अप्येते अस्माभिर्लघूकृता इत्याशयेन मोदन्ते 'पुष्यन्ति च' साध्वादिपरिवारेण श्राद्धादि पूजया च वर्द्धन्ते। 'चः' समुच्चये। अथ कथमेवंविधा अपि सन्मुनिमूर्द्धावस्थानेन ते तुष्यन्ति पुष्यन्ति चेत्यत आह—'अन्त्याश्चर्यराजाश्रिताः' पाश्चात्याश्चर्यपार्थिवानुगता, 'यत' इति हेतुगर्भं विशेषणं। एतदुक्तं भवति-न ह्येवंविधाकृत्यविधायिनो महामुनीनां मस्तकेष्ववस्थानं कर्तुं पारयन्ति, कथञ्चित्कुर्वाणा अपि वा न तोषं पोषं च ते प्राप्नुवन्ति, महामुनितिरस्कारमात्रेणापि तत्कारिणामिहैव हानि श्रवणात्, परं यदेवमनर्थकारिणोऽपि लिङ्गिनः सुविहितांस्तिरस्कृत्यापि नन्दन्ति तन्नूनं दशमाश्चर्यमहिमाऽयमिति वृत्तार्थः ॥ २२ ॥

साम्प्रतं तेषां प्रत्यहं सर्वविरतिरूपप्रत्याख्यानभङ्गकरणेन तपश्चरणाद्यभावं प्रतिपादयन्नाह—

सर्वारम्भ–परिगृहस्य गृहिणोऽप्येकासनाद्येकदा ॥ २३ ॥

व्याख्या–'सर्वारम्भ-परिग्रहस्य' सकलसावद्यव्यापार धनधान्यादिसङ्ग्रह-तत्परस्य 'गृहिणोऽपि' श्राद्धस्यापि, आस्तां महामुनेरित्यपि शब्दार्थः। 'एकाशनं' अन्तर्दिवसमेकवारनियमितभोजनः प्रत्याख्यातभेदः तदादिर्यस्य निर्विकृतिकादेः तदादिप्रत्याख्यानं 'एकदा' कदाचिदष्टम्यादितिथिषु प्रमादबाहुल्येन नित्यप्रत्याख्यानाभावात् 'प्रत्याख्याय' नियम्य, तदपि कदाचितकृतमेकाशनादि ' न रक्षतो 'ऽनाभोगसहसाकारादिना न पालयतो–भञ्जत इत्यर्थः। 'हृदि' चेतसि 'भवेत्'–जायेत 'तीव्रो' निष्ठुरोऽनुतापो–बहुना कालेन तावदद्य प्रत्याख्यानं कृतं तदपि मया मन्दभाग्येन भग्नमतो धिङ्मां, कथं मे शुद्धिर्भविष्यतीत्येवंरूपः पश्चात्तापः 'सदा' सर्वदा यावद्भङ्ग-प्रायश्चित्तं गुरुभ्यो नासादयति। 'षट्कृत्वः' त्रीन् वारान्सायन्तनप्रतिक्रमणे। त्रींश्च प्रगेतनप्रतिक्रमणे षड्वारान् "सङ्ख्याया वारे कृत्वस् तद्धितः" त्रिविधं त्रिविधेति, अनेन सामायिकसूत्रमुपलक्षयति, किल सावद्यः सायन् प्रातश्च प्रतिक्रमणे सामायिकसूत्रमुच्चारयन्तस्त्रिविधं त्रिविधेनेति पठन्ति, यथा—"[करेमि भंते! सामाइयं सवं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण"मित्यादि]। तत्र त्रिविधमिति तिस्रो विधा यस्येति त्रिविधं–कृतकारितानुमतलक्षणं, त्रिविधेति त्रिविधेन करणेन मनोवाक्कायरूपेण सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि इत्येवं रूपतया 'अनुदिनं' प्रतिवासरं 'प्रोच्य' अभिधाय–प्रतिज्ञायापीत्यर्थः, अप्रतिज्ञातानुष्ठानस्य हिं भङ्गेनापि न तथा दोष इत्यपि शब्दार्थः। 'भञ्जन्ति' खण्डयन्ति ये लिङ्गमात्रवृत्तयः तेषां। 'तु' गृहिणो भेदप्रदर्शनार्थः, क शब्दाः सर्वेऽप्यक्षमाव्यञ्जकाक्षेपार्थाः। 'तपो'ऽनशनादि, नित्यप्रत्याख्यानस्य सर्वसावद्ययोगविरतिरूपस्य सकललोकसमक्षमभ्युपेतस्य भङ्गप्रदर्शनेन नैमित्तिकप्रत्याख्यानस्यापि कथञ्चिल्लोकपङ्क्त्या विहितस्योपवासादेः भङ्गानुमानात्–नास्त्येव तेषां कचित्तपः। क 'सत्यवचनं' तथ्यवाक्?, सर्वं सावद्यं योगं न करोमीत्यभिधाय पुनस्तत्क्षणमेव तन्निषेवणात्, प्रत्यक्षमृषावादिताप्रसङ्गेनांशेनापि सत्यवचनाभावात्। क 'ज्ञानिता' सिद्धान्तरहस्यपरिच्छेदृत्वं?, ज्ञानस्य हि फलं विरतिः तस्याश्च सातशीलतया तैः समूलमुन्मूलनात् तथा च कथञ्चित्सतोऽपि ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वेन तदाभासत्वात्, ज्ञानगन्धोऽपि तेषां नास्तीति। क 'व्रतं' दीक्षा, दीक्षोपादानेऽपि प्रत्याख्यानभङ्गादलीकभाषणेन दीक्षाया

अपाथक्यापादनाद् व्रतं तेषां नास्ति । अत्र चासकृत्कशब्दोपादानेन लोके लोकोत्तरे च तत्तपःप्रभृतेः तपस्त्वादिकं न सम्भवतीति ज्ञाप्यते, तेनायमाशयः—यदा किल गृहिणोऽपि सततं गृहारम्भसंरम्भवत्वात्प्रमादभरनिर्भरा अप्यनवगततत्त्वा अपि कदाचित्प्रत्याख्यान-भङ्गेनैवमनुतप्यन्ते, तदा सुतरां यतीनां सर्वसावद्ययोगविरतानां विदितागमसाराणां कथचित् विरतिभङ्गे पश्चात्तापः प्रायश्चित्तग्रहश्च युक्तः, ये तु निश्शूकतया तां भञ्जन्तो मनाग्लज्जामपि नादधति तेषां नास्त्येव तपःप्रभृतीति वृत्तार्थः ॥ २३ ॥

इदानीं तेषां लोकोपहासपुरस्सरं जिनपथपरिपन्थित्वं वृत्तद्वयेन प्रकटयन्नाह—

देवार्थव्ययतो यथारुचिकृते सर्वर्त्तुरम्ये मठे ॥ २४ ॥
इयाद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिम् ॥ २५ ॥

व्याख्या—येषां स्थितिं प्रेक्ष्य लोकाः सोपहासवचसः स्युरिति सम्बन्धः । कथमित्याह—अहो इति विस्मये, सितपटाः—श्वेताम्बराः 'कष्टं' दुष्करं 'चरन्ति' अनुतिष्ठन्ति 'व्रतं' प्रव्रज्यां, महदाश्चर्यमेतत्—यत्—सितपटाः कलावप्येवंविधं व्रतकष्टमनुभवन्ति, नहि सम्प्रतितनैर्मानवैरल्पसत्त्वैरेवंविधं कष्टं कर्त्तुं शक्यते, अथ च सर्वैरप्येवंरूपं व्रतं कर्त्तुं पार्यत एव, सुखहेतुत्वादित्युपहासः । अथ कथमेवमुपहासः तेषां तैः क्रियत ? इत्यत आह—'साधुव्याजेन' यतिछद्मना विटाः, नामी साधवः तल्लक्षणायोगात्, किन्तु तद्व्याजेन विटाः, सकलतल्लक्षणोपपत्तेः । तदेवाह—'देवार्थव्ययतो' देवगृहाधिपत्ये न तद्द्रविणस्य तदधीनत्वात् जिनवित्तविनियोगेन 'यथारुचि' स्वमनोऽभिलापानुरूपमित्यर्थः । 'कृते' निष्पादिते 'सर्वर्त्तुरम्ये' सकलवसन्तादिरूपता विभक्तकालविशेषमनोहरे मठे प्रतीते, तत्र 'नित्यस्थाः' सततवासिनः, सुविहिता हि देवद्रव्योपभोगभयात् यतिनिमित्तनिर्मितत्वेन महासावद्यत्वाच्च मठे न वसन्ति, किन्तु याचिते यादृशि—तादृशि परगृहादावेव, तत्रापि ना[न]वरतं वसन्ति, नित्यवासस्य च यतीनां श्राद्धादिप्रतिबन्धलाघवादिहेतुत्वेन प्रति-षेधात्, उद्यतविहारस्यैव ममकाराद्युच्छेदनिमित्तत्वेनाभिधानात् । एते तु सातलम्पटतया मठे नित्यकृतस्थितयो विलसन्तीति कथं न भवन्ति विटाः ? । तथा 'शुचयो' निर्मलाः 'पट्टतूल्यः' पट्टांशुकसंवीता हंसरूतादि मयाः शय्याविशेषाः, यद्वा 'पट्टाः' श्रीपर्णादि दारुनिर्मिताः ताः 'शयनं' शयनीयं येषां ते तथा, साधवो हि कम्बलादि-संस्तारक एव शेरते, न पट्टतूल्यादिषु, तासां प्रमार्जनाद्यशुद्धे विभूषासातशीलत्वव्यञ्ज-कत्वाल्लोकोपहासहेतुत्वाच्च, एते तु तत्र शयाना विटत्वं प्रकटयन्ति । तथा 'सद्गण्डिका-द्यासना' शोभनगण्डिकाद्यासनाः—शोभनगण्डिकामसूरकादि विष्टरभाजः, गण्डिकाद्युप-

वेशने च दोषा मुनीनां प्रागेवोक्ताः । 'सारम्भाः' मठ–वाटिका–कृष्यादि–महासावद्या–व्यापारकरण–कारण–प्रवणाः 'सपरिग्रहाः' गृहिवत् वाणिज्यादिप्रयोजनेन धनधान्य-स्नेहादिभाण्डसङ्ग्रहपरायणाः 'सविषयाः' चक्षुरादीन्द्रियानुकूल–नर्त्तकीदर्शन–ताम्बूल-स्वादन–चन्दनाद्यङ्गराग–गन्धर्वगीत–श्रवणादिविषय–सततानुपक्तचेतसः ' सेर्ष्या ' विषयासक्तत्वात् कामुकत्स्वाभिमतां योषितमन्येन सार्द्धमालापादिविदधानामवेक्ष्य तं प्रत्यक्षमाभाजः 'सकांक्षाः' सम्भोगविलासाभ्यामात्प्रतिक्षणं नवनवोपजायमानरिंसो-त्कलिकाः । आरम्भादयश्च यतीनां बहुदोत्वादनेकधा निषिद्धा एव । 'सदा' सर्वदा, विषयाणामनादिभवाभ्यासत्, कदाचित् सन्मुनेरपि कस्यापि चेतोविकारमात्रं प्रादुःष्यात्, न तु सर्वदा, तदैव तेषां ज्ञानाङ्कुशेन स्वचित्तमाकृष्य मिथ्यादुष्कृतादि प्रायश्चित्तप्रति-पत्तेः, इति साधूक्तं–'साधुव्याजविटा' इति ॥ २४ ॥

'इति' उक्तप्रकाराणि, आदिशब्दात् अन्यान्यप्येवं प्रायणि विडम्बना व्यञ्जकानि वचांसि गृह्यन्ते । ततश्च इत्यादीनि–उद्धतानि–बहुजनवदनस्य मुद्रयितुमशक्यत्वातनि-श्शङ्कतयोद्भटानि, सर्वत्रास्खलितानीति यावत् । 'सोपहासानि' उत्प्रासभाञ्जि ' वचांसि ' वचनानि येषां ते तथा स्यु–र्भवेयुर्लोकाः–प्राकृतजनाः कुतीर्थिकभाविताश्च जैनपथमत्सरिणः ' प्रेक्ष्य ' साक्षात्कृत्य, येषांमिति पदं तुर्यपादस्थितं सकलं वाक्यं दीपयति, तेन येषां स्थितिमित्यादि सम्बध्यते । 'स्थितिं' यति अनुचितासमञ्जसामाचारीं,स्वरूपेणैव तावत् मत्सरिणः सर्वस्याप्युपहासं कुर्वन्ति, किम्पुनः सम्प्रति निरतिशयस्य जिनशासनस्य ?, तत्रापि लिङ्गिनां तथारूपं वैशसं व्यवहारं वीक्ष्य कथङ्कारं न कुर्युरित्यर्थः । तथा ' श्रुत्वा ' आकर्ण्य येषां स्थितिं ' अन्ये ' अपरे ' अभिमुखाः ' शेपदर्शनेभ्यः सकलो-पपत्तिकलितमिदं जैनदर्शनं, यतयोऽप्यत्र दर्शने शान्तात्मानः क्रियानिष्ठाश्चोपलभ्यन्ते, ततोऽस्माकमपीदमङ्गीकर्त्तुमुचितमिति चेतसोऽभ्युपगमविषयीकृतजिनशासनास्तेऽपि, आसतां तदपर इत्यपेरर्थः । 'श्रुतपथात' जैनसिद्धान्तमार्गात् वैमुख्यं, एतावन्तमनेहसं वयमेवम् अज्ञास्याम–यदेतदेव तात्त्विकं धर्मदर्शनं निरपवादं, परं यदत्राप्येवंविधा असदा-चारकारिणो विलोक्यन्ते तदाऽलमनेन ताम्र–हिरण्मया–लङ्कारदेशीयेनान्तो निस्सारेण बहिर्मात्रमनोहरेण सर्वथा, प्राक्स्वीकृतमेवास्माकं दर्शनं श्रेयः, अहो जैना अन्यथा-वादिनोऽन्यथाकारिण इत्यादि वचनसन्दर्भेण ' वैमुख्यं ' पराङ्मुखत्वं सर्वथा बहि-र्भावमिति यावत 'आतन्वते' दर्शयन्ति । तथा येषां ' मिथ्योक्त्या ' मृषावचनेन, ते हि स्खलिताचारत्वेन सर्वशङ्कितत्वात् असमञ्जसचेष्टितं प्रति केनचित्प्रष्टास्सन्तो मलि-म्लुचवदलीकं भाषन्ते, यथा–क एवमाह ?–न वयमेवंविधमेव कारिण इति । ततश्च

'सुदृशोऽपि' सम्यग्दृष्टयो जिनमतान्तःस्था अपि प्रायशः, किम्पुनरन्ये ? इत्यपेरर्थः। 'बिभ्रति' धारयन्ति–कुर्वन्तीति यावत्, मनः–चेतः 'सन्देह' इदं किमेवमन्यथा वेत्युभयकोटी उल्लेख्यनवधारणज्ञानं संशयः, स एवं एकत्रानवस्थितरूपत्वसाधर्म्याद्दोला, तया चलं, यथा दोलारूढं वस्तु तस्याश्चलत्वाच्चलं, एवं सुदृशामपि मनः। अथवा 'सन्देहेन करणभूतेन दोलावच्चलं येषां नाम जैनानां ते अमी सर्वत्र सम्प्रति प्रसृतत्वात् पुरोवर्त्तिनः। नन्वित्यक्षमायां। 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः 'जिनपथप्रत्यार्थिनो' भगवन्मतप्रत्यनीकाः, न तु केनापि प्रकारेण तदनुकूला अपि जैनदर्शनोहास–तदभिमुखवैमुख्यापादनादिना जिनशासनेनुपचयहेतुत्वेन वस्तुतस्तेषां तदुच्छेदकत्वात्। येषां चापराधेन शशधरकरविशदे भगवच्छासने लोकोपहासविपर्यासादयो दोषाः प्रादुःष्यन्ति तेऽनन्तसंसारिणः सिद्धान्ते प्रतिपादिताः, महापापीयस्त्वात्। 'तत' इत्येतत्पदमग्रिमवृत्तौ सम्भंस्यत इति वृत्तद्वयार्थः॥ २५॥

साम्प्रतं कुपथवर्त्तिनां विधिपथं प्रत्यैकान्तिकीमात्यन्तिकीं च निरुपमां च मनसो दुष्टतामुपलभ्य तदुत्पादं च इतरजनमनःकारणसामग्र्या असम्भावयंः तद्विलक्षणां तदुत्पादसामग्री सम्भावनाद्वारेणाह—

सर्वैरुत्कटकालकूटपटलः सर्वैरपुण्योच्चयैः॥ २६॥

व्याख्या—'ततः' शब्दस्य प्राक्तनवृत्तस्थस्येह सम्बन्धात्तेन, यतोऽमी सर्वथा सत्पथं दुष्टचेतसः ततः तस्माद्धेतोः, किमित्याह–नूनमिति सम्भावनायां, अहमेवं सम्भावयामि–यावन्त्यतिदुष्टवस्तूनि जगति सन्ति तात्रद्भिर्दुर्मोगमासेदुषां क्रूरं मानसमकारीति सम्बन्धः, कथमन्यथा तन्मनसोऽतीव क्रूरता? इतरजनमनःसाधारणकारणसामग्रीतः तदनुपपत्तेः, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य, न च हि न्यग्रोधबीजात्पिचुमन्दप्ररोहः। कैस्तैरित्याह–'सर्वैः' सकलैरुत्कटकालकूटपटलै–र्नूतनत्वादत्युग्रसद्योघातिविषभेदसमूहैः, एकद्वित्र्यादिभिरनुत्कटैश्च कालकूटशकलैस्तत्पटलैर्वा तादृक् क्रूरमनसो जनयितुमशक्यत्वादेवमुक्तं। एवमुत्तरपदेष्वपि योज्यं। सकलकालकूटपटलैरेव केवलै प्रकृतमनसः कर्तुमशक्यत्वात्–अपुण्योच्चयैरित्यादि वाक्यावतारः,ततश्च सर्वैः–अखिलैरपुण्योच्चयैः पापराशिभिः, सर्वव्यालकुलैः–अशेषाशीविषसन्दोहैः 'समस्तविधुराधिव्याधिदुष्टग्रहैः' कृत्स्नव्यसनचेतःपीडा–गद–मङ्गलादि पापग्रहैरेभिरखिलैर्दुष्टैरेकसामग्रीभावेन सम्भूय 'क्रूरं' सन्मार्गघातुकं 'मानसं' चेतः 'अकारि निर्ममे। क्रूररूपस्य मनसो निर्माणं विधेयमत्र, एतेनास्य मनस इतरमनोभिः साजात्यमपि निरस्तमित्येतदपि सम्भावयामि इतरमनो-

विलक्षणसामग्रीजन्यत्वेन वैजात्योपपत्तेः, न हि मृत्पिण्डदण्डादि–तन्तुवेमादिविसदृश-सामग्रीजन्ययोर्घटपटयोः साजात्यं नाम, तथा च तन्मनसः कदाचिदपि न शुभभावता-पत्तिः, न हि भूनिम्बस्य–शर्कराभावः शिल्पिशतेनाप्यापादयितुं शक्यते, तत्कस्य हेतोः ? स्वस्वसामग्र्या विजातीयतयैव तयोरुत्पत्तेरिति । अथवा मनः सिद्धमेव तस्य तु क्रूरत्वं विधेयं,तस्य कालकूटादिभिः साध्यं । अथास्मिन्पक्षे क्रूरत्वस्यौपाधिकत्वात् अपगमप्रसङ्गो, वस्त्रादिषु महारजनरागस्य तथा दर्शनादिति चेन्न, औपाधिकस्यापि धर्मस्य कयाचित् सामग्र्या जन्यमानस्यानगमदर्शनात्, यथा पट्टांशुकादिषु नीलीरागस्यौपाधिकस्यापि न कदाचिदपगम इति । तदुपपन्नमेतन्नूनं क्रूरमकारि मानसमिति । ' अमुं ' प्रत्यक्षं ' दुर्मार्गं ' कुपथं ' आसेदुषां ' अभ्युपेयुषां लिङ्गिनां तद्भक्तानां चेति शेषः । ननु भवतु तेषां क्रूरं मनस्तथापि किं न वञ्छिन्नमित्यत आह–' दौरात्म्येन ' दुष्टाशयत्वेन 'निज-घ्नुषां ' उच्चिच्छिदुषां ' जिनपथं ' भगवत्प्रणीतं सत्पथं सन्मार्गवर्त्तिनामुपसर्गकरणेन वस्तुतो जिनमार्गं भ्रंशयद्भिर्बहुस्माकं छिन्नमित्यर्थः । अथ जिनपथं नि [ज] घ्नतां तेषां द्विजादीनामिव किं दर्शनान्तरपरिग्रहेण मतान्तर प्ररूपणा नेत्याह–' वाचा ' वचनेन स्वमति कल्पितमप्यौद्देशिक भोजनादिमार्गं ' एषसः ' अयमेव स जिनप्रणीतः पन्था नान्य ' इति ' एवं प्रकारेण ' उचुषां ' अभिदधुषां, न ते दर्शनान्तरस्थाः स्वमतं परूपयन्ति, तत्स्थैर्जिनपथवर्त्तिनो जनस्य प्रतारयितुमशक्यत्वात्, किन्तु अस्मि-न्नेव दर्शने वेषमात्रेण स्थिताः स्वप्ररूपितं कुमार्गं जैनमार्गतया वदन्तो मुग्धलोकं व्यामो-हयन्तीत्यर्थः, एतावता संरम्भेण सत्पथं प्रत्यतीव प्रत्यनीकत्वं तेषां प्रकटितं । इह च सेत्यत्र ' स ' शब्दाद्विर्जनीयलोपे सन्धिप्रतिषेधेऽपि " ते तदा पादपूरतो सन्धि " रिति विशेषलक्षणेन सन्धिविधानमिति वृत्तार्थः ॥ २६ ॥

' अत इत्य ' न्तरा पदद्वयोरप्यनयोर्वृत्तद्वयोः सम्बन्धयोजनार्थं, तच्चाग्रिमवृत्त-स्यादौ योक्ष्यते, इदानीं तेषां वचनमात्रमपि विवेकिनः श्रोतुं न युज्यत इत्याह—अतः–

दुर्भेदस्फुरदुग्रकुग्रहतमः स्तोमास्तधी चक्षुषां ॥ २७ ॥

व्याख्या—यत एवं नामैते जैनपथं प्रति दुष्टा, अतो–ऽस्माद्धेतोः, किमित्याह तेषां ' वचांसि ' कुपथप्रतिपादकानि वचनानि ' कुरुते ' विधत्ते कर्णौ स्वश्रवणे 'सकर्णः' सश्रोत्रः । अथ च सहृदयः ' कथं ' केन प्रकारेण ? न कथञ्चिदित्यर्थः । नहि सकर्णस्य कर्णकटूनि स्पृष्टपरमर्माणि वचनानि खलानां श्रोतुं युक्तानि, किन्तु कर्णयोरेतदेव फलं-यत्पीयूषवार्धुका अपहसितमुक्ताः सतां सूक्तयः श्रूयन्ते । अथ च सकर्णस्य प्रेक्षावतः

कुपथवर्त्तिनां भाषितानि कर्णे कर्तुं न युज्यन्ते, तच्छ्रवणस्य साधूनामपि मिथ्यात्वनिबन्धत्वेनाभिधानात्। कीदृशामित्याह–' दुर्भेदो ' निबिडत्वात्–दुरुच्छेदः ' स्फुरत् मनसि सततावस्थिततया जागरूक 'उग्रो' दृढः ' कुग्रहः चैत्यवासादि प्रतिष्ठापनविषयो मिथ्याऽभिनिवेशः स एव ' तमः स्तोमः ' सत्पथदर्शनान्तर्धायकत्वादन्धतमसः पटलं, तेन ' अस्तं ' छन्नं ' धीः ' प्रेक्षा, सैव सत्पथप्रकाशकत्वात् चक्षुर्लोचनं येषां ते तथा, तेषां, यथा तमः स्तोमेन तिरोहितचक्षुः पन्थानं न पश्यति तथा तेषामपि धीः कुग्रहेण तिरस्कृतत्वात् न सन्मार्गं मृगयते। तथा 'सिद्धान्तद्विषतां' तद्विपर्यस्ता–र्थप्ररूपणया तदुच्छेद प्रवृत्तत्वादागमवैरिणां, निरन्तरमहामोहाद्–व्यसनातिरेकाविवेकात्। अहमिति निपातोऽस्मदर्थः ततश्च वयमेव श्रेष्ठाः, नास्मत्समः कश्चिदित्यात्मानं मन्यन्ते ये ते अहम्मानिनस्तेषां, विवेकिनां हि गम्भीरत्वेन महति गुणगणे सत्यप्यनुत्सेकात्, मूढानां तु तुच्छतया स्तोकेऽपि तस्मिन्–जगतोऽपि तृणतया मननात्, तथा 'स्वयं' आत्मना 'नष्टाः' सुखलोलतयाऽनवरतम्–अन्याय्ये पथि प्रवर्त्तमाना जनपुरतः संस्थापयितुमशक्नुवन्तः ' क्व धर्मः ? क्व सम्प्रति व्रतिन ' इत्यादि नास्तिक्यं प्रतिपन्नाः तेषां, 'अन्येषां' आत्मव्यतिरिक्तानां 'नाशनकृते' नास्तितावादापादननिमित्तं 'बद्धोद्यमानां' यदि हि एतानप्यात्मना कथञ्चित्समी कुर्मस्तदा सुन्दरं भवत्यन्यथैते धार्मिकंमन्याः परुषवाग्भिः अस्मान् सन्तक्षिप्यन्तीत्याशयेन तन्नाशनाय विहितप्रयत्नानां ' सदा ' सर्वदा ' मिथ्याचारा ' मुक्तिपथविपरीताः समाचारा मिथ्यात्वा–विरति–प्रमाद–कषाय–दुष्टयोगलक्षणाः, अथवा लोकप्रलम्भनहेतु–कषायेन्द्रियसंयमपुरस्सरं विषयप्रणिहितमनस्कत्वं, यदाह " बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥ १ ॥" ततश्च ' तद्वतां ' तद्युक्तानां, अतः तद्भाषितानि सुविहितैः सुश्रावकैश्च न श्रोतव्यानीति तात्पर्यमिति वृत्तार्थः ॥ २७ ॥

अधुना वितथादिरूप धर्मदेशिनामपि तेषां कुपथस्य तथाविध–मुग्धजनोपादेयतां सविषादं प्रतिपादयन्नाह—

यत् किञ्चित् वितथं यदप्यनुचितं यल्लो–क लोकोत्तरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—तत्तदिति वीप्सया सर्वसङ्ग्रहमाह–धर्मसाधनमनुष्ठानमिह धर्मः ततश्च ' धर्म इति ' सुकृतमिदमित्येवंरूपतया ' ब्रुवन्ति ' वदन्ति ' कुधियो ' दुर्मेधसो नामजैनाः। यत्किमित्याह–यत्किञ्चिदिति, सामान्यतो निर्दिष्टं विशेषतोऽनिर्दिष्टनामकं

'वितथं' अलीकं श्रेणिकराजरजोहरणवन्दनादि, न ह्येतदागमे क्वचिल्लिखितमस्ति, येन सत्यं स्यात्, परं लिङ्गिनः स्ववन्द्यतापादनार्थं तदपि धर्म इति भाषन्ते, यदाह–" श्री-श्रेणिकः क्षितिपतिः किल सारमेय–लाङ्गूलमूलनिहितं यतिवद्ववन्दे । भक्त्या रजोहरण-मित्यनृतं वदन्ति, ही !!! लिङ्गिनो नृपतया कुधियः प्रलब्धुम् ॥ १ ॥" तथा यदपि, अपिः समुच्चये। यच्चानुचित–मयोग्यं पित्राद्युद्देशेन यात्राकरणादि निमित्तं हि धर्मनिमित्तं हि कृत्यजातं जिनमन्दिरे कर्त्तुमुचितं, नान्यत् । पित्राद्युद्देशेन तु यात्रादि तत्र विधीय-मानं गुणबहुमानविकलकेवलस्नेहनिबन्धनत्वान्न धर्मः, परं तदपि लिङ्गिनो धर्मोऽय-मित्यभिधाय स्वोपयोगाय विधापयन्ति । तथा यल्लोको–जैनमार्गबहिर्भूतः शिष्टजनः 'लोकोत्तरो' जिनप्रवचनं, ताभ्यामुत्तीर्णं–बाह्यं सूतकभिक्षाग्रहणादि, एतत् हि लोकलोको-त्तरयोर्विरुद्धत्वात् न धर्मस्ते तु गार्द्ध्यादिहेतुनैतदपि धर्म इत्यभिदधति, यदाह–"भिक्षा-सूतकमन्दिरे भगवतां पूजा मलिन्या स्त्रिया, हीनानां परमेष्ठि संस्तवविधिर्यच्छिक्षणं दीक्षणम् । जैनेन्द्रप्रतिमाविधापनमहो तल्लोकलोकोत्तर–व्यावृत्तेरथ–हेतुमप्यधिषणाः श्रेयस्तया चक्षते ॥ १ ॥" तथा यद्भवहेतुरेव–संसारकारणमेव 'भविनां' देहिनां जिन-मन्दिरे जलक्रीडादि। एतद्धि मदनोद्दीपनत्वात् क्रीडामात्रत्वेनाताच्विकत्वाच्च संसारवर्द्धन-मेव, परमेतदपि लिङ्गिनो धर्मच्छद्मना स्वावलोकनकुतूहलेन कारयन्ति । तथा यत् 'शास्त्रबाधाकरं' सिद्धान्तविरोधाधायकम् औद्देशिकभोजनादि, यथा चौद्दिशिकादीनां शास्त्र-बाधितत्वं तथा प्राग्नेवोपपादितं, अथवा आषाढचतुर्मासकात् पञ्चाशत्तमदिनप्रतिपादितस्य पर्युषणापर्वणः श्रावणाद्याधिक्यवति वर्षेऽशीतितमेऽह्नि विधानं । ननु ब्रुवन्तु ते स्वमति कल्पितं मार्गं, तथा वितथादिस्वभावत्वात्तं न कोऽपि ग्रहीष्यति, तथा चोक्तोऽप्यनुक्त-कल्पो लोकोपादानाभावेन प्रसराभावादित्यत आह–' मूढा ' अज्ञानिनः तद्धर्मव्याजेन लिङ्गिप्ररूपितं मतं अर्हन्मतभ्रान्त्या जिनमार्गोऽयमिति मिथ्याज्ञाने ' लान्ति ' उपपादते। अयमर्थः यथोभयगतचाकचिक्यादि सदृशधर्मोपलम्भात् परस्परव्यावर्त्तकदेशजात्यादि-भेद धर्मानुपलम्भाच्च अरजनेऽपि शुक्तिकायां रजतमेतदिति धिया भ्रान्ताः प्रवर्त्तन्ते, अथेहापि सन्मार्गासन्मार्गगतजिनदेवताऽभ्युपगमबाह्यवेषादि समानधर्मावगमादन्योन्यव्यवच्छेद-कविष्यविधिप्रवृत्त्यादि विशेषधर्मानवगमाच्च वितथत्वादिना वस्तुतोऽनर्हन्मतेऽपि प्रकृत-मार्गेऽर्हन्मतमेतदिति बुद्धया मूढाः प्रवर्त्तन्त इति, न केवलमेते कुमार्गं वदन्ति मूढास्तु तं गृह्णन्त्यपीति च शब्दार्थः। हा इति खेदे 'दुरन्तदशमाश्चर्यस्य' दुःखावसानान्त्यश्चार्यस्य 'विस्फूर्जितं' विजृम्भितमेतदिति, कथमन्यथा कुपथस्याप्येतस्य बहुमुग्धजनोपादेयता स्या-दतः कष्टमेतत् यद् अद्यापि अयं कुमार्गोऽस्खलितप्रसरोऽनुवर्त्तत इति वृत्तार्थः ॥ २८ ॥

साम्प्रतं मुग्धजनान् प्रति स्वमतं मोक्षपथतया दिशतः सत्पथगामिनश्च धार्मिकान् स्ववचनाऽननुरोधित्वेनाज्ञतया अवजानानस्य कस्यचिद्यथा छन्दाचार्यग्रामण्योऽप्रस्तुत-प्रशंसया स्वरूपमाह—

कष्टं नष्टदिशां नृणां यददृशां जात्यन्धवैदेशिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या—'कष्टं' दुःखमेतत् नः चेतसि वर्त्तते, यत् किमित्याह, यदिति वाक्योपक्षेपे, यन्नृणामदृशां जात्यन्धवैदेशिकः कान्तारेऽभीप्सितपुराध्वानं प्रदिशतीति सम्बन्धः। तत्र 'नृणां' पुंसां 'नष्टदृशां' अलोचनत्वात्कान्तारपातेन दिङ्मूढत्वाच्च प्रभ्रष्टप्राचीप्रतीच्यादिककुपविभागपरिच्छिदानां 'अदृशां' काचकामलादिना दृग्विकलानां, न तु जन्मान्धानां, जन्मान्धो–जन्मभिव्याप्त्या लोचनरहितः। न तु सोऽपि तद्देशजात इतरेभ्यः श्रवणादिना विज्ञाय कथञ्चिदिष्टपुरपथं देक्ष्यतीति तत्रोक्तं 'वैदेशिक' इति। विदेशे–योजनव्यवहिते देशान्तरे जातो वर्द्धितश्चेति वैदेशिकः। सहि तद्देशस्वरूपमात्रस्याप्यनभिज्ञत्वात्कथं प्रकृतमार्गं जानीयादपि, ततः कर्मधारयः। 'कान्तारे' जनसञ्चारशून्ये दुर्गवर्त्मनि 'प्रदिशति' प्रतिपादयति। 'अभीप्सितपुराध्वानं' जिगमिषितः नगरमार्गं, किलेति वार्त्तायां। 'उत्कन्धरः' उद्ग्रीवः कंधरामुन्नमय्य भुजदण्डमुत्क्षिप्य कथयतीति कष्टमेतत्। तुः पुनरर्थे। 'इदं' वक्ष्यमाणं पुनः 'कष्टतरं' पूर्वस्मादपि कष्टान्महत्कष्टं। यत् किमित्याह–'सोऽपि' प्रागुक्तो मार्गदेष्टा 'सुदृशो' निर्मलनयनानत एव 'सन्मार्गगान्' इष्टनगरसुगमपथप्रस्थितान् 'तद्विदः' सम्यक् सन्मार्गज्ञान् यत् हसति, सावज्ञमिति क्रियाविशेषणं–सावहेलं 'अज्ञानिव' मार्गानभिज्ञानिव। यथा मार्गानभिज्ञा मार्गमुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तथैतेऽपि तेन। एवं प्रस्तुतमुपमानं योजयित्वा प्रस्तुतमुपमेयमिदानीं योज्यते–कष्टमेतत् यन्नृणां–सत्पथेच्छुपुरुषाणां 'नष्टदृशां' अतिमुग्धतया सत्पथकुपथविभागानभिज्ञानात् अदृशां–सम्यग्ज्ञानदर्शनविकलानां 'जात्यन्धः' सिद्धान्तरहस्यलेशानभिज्ञः सर्वथा अगीतार्थः। सोऽपि गीतार्थसंवासादेः कथञ्चित् मोक्षपथकथनप्रवीणः स्यात्–तत्राह–'वैदेशिको' गर्हिताचारत्वाद् गीतार्थमुनिपुङ्गवसङ्गमात्रवर्जितः। एष चाधुनिकदुसङ्घप्रवरो निश्शङ्कं निःश्रेयसपथप्रत्यार्थिमार्गकथनदीक्षितो यथाछन्दशिरोमणिः कश्चिदाचार्यो मन्तव्यः। 'कान्तारे' भवमहाटव्यां 'प्रदिशति' अभीप्सितपुराध्वानं–मुक्तिमार्गं 'उत्कन्धरो' दर्शिताहङ्कारविकारः। तथा य सोऽगीतार्थ उत्सूत्रभाषको मिथ्यादृष्टिः कथञ्चिदपि 'सत्पथं' मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्येन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रत्येति, इति कष्टं,

एतत्कष्टतरं 'तु' इति पूर्ववत् । सोऽपि प्रागविहितो यथाछन्दाचार्यः 'सुदृशः' सम्यग्ज्ञानदर्शनयुजः 'सन्मार्गगान्' ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमुक्तिपथप्रवृत्तान् 'तद्विदो' मुक्तिमार्गाभिज्ञान धार्मिकान् सुविहितसाधून् यद्धसति सावज्ञमज्ञानिव, यथा-किममी अगीतार्था मूर्खशिरोमणयः सिद्धान्तरहस्यं जानन्ति ?, अहमेव सकलश्रुतपारावारपारदृश्वा, ततो यमहं ब्रवीमि स मुक्तिमार्ग इति । किमित्येवमुपहसतीत्यत आह-तन्महाकष्टमित्युपमानोपमेययोस्तुल्यतया योजना । अत्र च मुग्धजनपुरतो निरङ्कुशं स्वकल्पितं चैत्यवासादिकमुत्सूत्रपथं प्रथयन् विधिविषयपारतन्त्र्यप्ररूपणनिपुणान् सुगुरुसम्प्रदायवर्तिनः सुविहितानऽसूययोपहसन् सम्प्रति वर्त्तमानः कुसङ्घाचार्यवर्गोऽनया भङ्ग्या कविना प्रतिपादित इति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रतं श्रुत-पथा-वज्ञा-द्वारमुपसञ्जिहीर्षुः शुद्धजिनमार्गस्य दुष्टोपचितसमुदित कारणकलापेन सम्प्रति दुर्लभत्वं प्रतिपादयन्नाह—

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमयहृसद्भव्यभावानुभावा, ॥ ३० ॥

व्याख्या—या आगम-ग्रन्थेष्वागामितया लिखिताऽऽकर्ण्यते, सा एषा सम्प्रति प्रत्यक्षा, कालस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तदुद्भवकार्याणां प्रत्यक्षेणोपलम्भेनोपचारादेवैत्युक्तं । 'अवसर्पन्ति' प्रतिक्षणमायुः शरीरप्रमाणादयो भावा हानिं गच्छन्ति प्राणिनामस्यामित्यवसर्पिणी सिद्धान्तप्रसिद्धः कालविशेषः, हुण्डं-सकलाङ्गोपाङ्गानां यथोक्तमानवैकल्यहेतुः षष्ठं संस्थानं, तेनोपलक्षिताऽवसर्पिणी हुण्डावसर्पिणी, व्युत्पत्तिमात्रं चेदं, तत्त्वतस्त्वनन्ततम-कालभाव्यसंयतपूजानिबन्धनं चैत्यवासयुत्पादहेतुः शुभभावहानिकारणं कालभेदो हुण्डावर्पिणी, सा च भगवति मोक्षं-गते जातेति । 'समयः-परमसूक्ष्मः कालः, ततश्चानुसमयं-प्रतिक्षणं 'भव्यानां' मुक्तिगामिनां, अथवा 'भव्याः' शुभा 'भावाः' परिणामा 'अनुभावाश्च' प्रभावा मति-निश्चया वा, ततश्च 'हृसन्तो' हीयमाना भव्यभावानुभावा यस्यां सा तथा । हुण्डावसर्पिण्यां हि कालस्वाभाव्यात् धर्मार्थिनामपि प्रायेण भावा यादृशा वर्त्तमान क्षणे न तादृशाः क्षणान्तरे इत्यादि क्रमेण प्रतिक्षणं सङ्क्लेशतारतम्याघ्राततयोपजायमाना उपलभ्यन्ते, तथा च प्रकरणकारेणैव प्रकरणान्तरे प्रदर्शितं-" कालस्स अइकिलिट्ठत्तणेण अइसेसिपुरिस-विरहेण । पायमजुग्गत्तेण य, गुरुकम्मत्तेण य जियाण ॥ १ ॥ किर मुणियजिणमयावि हु, अंगीकयसरिसधम्ममग्गावि । पायमइसंकिलिट्ठा, धम्मत्थी विरथ दीसंति ॥२॥" अत्र च हृसदित्यनेन संयोगपरत्वेऽपि पूर्ववर्णस्य न गुरुत्वं, छन्दः शास्त्रैर्व्यवस्थित[कया]नुवृत्त्या क्वचित्तन्निषेधात् ।

तथा 'त्रिंशः' जैनसिद्धान्तोक्ताष्टाशीतिग्रह-मध्यात्रिंशतः पूरणः, चः समुच्चये, उग्रग्रहो-जिनप्रवचनस्योदग्रोपसर्गकारित्वात्-दारुणो ग्रहः, अयं-मेष प्रत्यक्षोपलभ्यमानकार्यो भस्मराशिनामा, खं-अकाशं, तस्य च शून्यत्वात्खमिति गणितव्यवहारे शून्यस्य-बिन्दोः संज्ञा, नखा इति च विंशते संज्ञा, नखानां विंशतिसङ्ख्यत्वात्, ततश्च खं च खं च नखाश्चेति द्वन्द्वः, तैः पश्चानुपूर्व्या अङ्करचया स्थापितैः मितानि-परिसङ्ख्यातानि 'वर्षाणि' संवत्सराः 'स्थिति' रेकस्मिन् राशाव[व]स्थानं यस्य स तथा, एकराशौ वर्ष-सहस्रद्वयस्थितिक इत्यर्थः(२०००)। सहि ग्रहो भगवन्निर्वाणकालानन्तरं वर्षसहस्रद्वयं यावत् क्रूरत्वात्-भगवज्जन्मराशौ सङ्क्रान्तत्वात्-भगवन्तं च मुक्तत्वेन दुःखीकर्तुमशक्तत्वात्-तत्पक्षतयैव प्रवचनस्य बाधां करिष्यति। तथा 'अन्त्यं' दशमं, चः समुच्चये। 'आश्चर्यं' अनन्ततम-कालभावित्वादद्भुतम-संयतपूजाख्यं 'एतत्' इदानीं प्रत्यक्षं 'जिनमतहतये' आर्हतप्रवचनापभ्राजनापादनाय 'तत्समाः' तैः प्रागुक्तैस्त्रिभिः 'समा' तुल्यबला 'दुष्षमा' दुष्टा-लोकदुःखकारिण्य 'समा' वर्षाणि यस्यां सा तथा, कालचक्रस्य षडरकस्य पञ्चमोऽरकः, यथा प्राक्तनास्त्रयः सम्मुदिता जिनमतं घ्नन्ति तथा चतुर्थी दुष्षमाऽपि। चः पूर्ववत्। इति प्रकरणे। 'एषु' प्रकृतेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु 'एवं' दर्शितप्रकारेण प्रतिपदं सुविहितलाघवासंयतगौरवापादनलक्षणदुष्टकार्यदर्शनाद्दृष्टेष्विव 'दुष्टेषु' क्रूरेषु 'पुष्टेषु' प्रकर्षकोटिं प्राप्तेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु चतुर्षु 'अनुकलं' प्रतिसमयं 'अधुना' साम्प्रतं 'दुर्लभो' दुरापो जैनमार्गः, प्रतिपत्तिविघ्नकारिणां हुण्डा-वसर्पिण्यादीनां दुष्टत्वात्तन्महिम्ना च भूयोलोकस्य भवाभिनन्दित्वात्कतिपयसात्त्विक-जनोपादेय इति यावत् 'जैनमार्गः' प्रतिश्रोतोरूप-भगवत्पथ इति वृत्तार्थः ॥ ३० ॥

एवं तावदष्टादशभिर्वृत्तैः प्रबन्धेन लिङ्गिनां श्रुतपथावज्ञा प्रतिपादिता, सम्प्रति तैरेव धर्मतया प्रतिपादितं गुणिद्वेषधीरिति द्वारं निराकुर्वंस्तेषां गुणिद्वेषं दर्शयन्नाह—

सम्यग् मार्गपुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोल्लसच्चक्षुषः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—खलाः सत्साधून् न क्षाम्यन्तीति सम्बन्ध। तत्र 'खलाः' गुणिः मत्सरिणः प्रकरणाल्लिङ्गिनः। कृतदुष इति दुषधातुः क्विबन्तोऽत्र दोषपर्यायः। ततश्च 'कृता' विहिता 'दुषो' दोषाः-स्वयमनेकेऽनर्था यैस्ते तथा, तत्स्वभावत्वात् तेषां अथवा 'कृता' आरोपिता 'दुषो' दोषा यैस्ते तथा, निर्मलेष्वपि सन्मुनिगुणेषु लोकमध्ये लाघवापादनाय स्वधिया विहितदोषारोपा इत्यर्थः। गुणवत्स्व सदोषारो-पणस्य तेषां कुलव्रतत्वाच्च। 'उद्यत् दुषः निर्निमित्तं सुविहितदर्शनमात्रेणैव प्रकटित-

ललाटतटभ्रकुट्यादि क्रोधविकाराः 'न क्षाम्यन्ति' न सहन्ते, द्विषन्तीत्यर्थः। तत्र देशेऽमीषां प्रचारेण वयं लोकस्यागौरव्या भविष्याम इत्यादि बुद्ध्या मात्सर्यात्तत्रावस्थातुमेव तेषां न ददतीत्यर्थः। सुविहित यतीन् सत्साधुत्वमेवानुगुणविशेषणैस्तेषां भावयति– 'सम्यङ्मार्गपुषः' भगवत्प्रणीतज्ञानादित्रयरूपमोक्षपथस्य भव्यानां शुद्धोपदेशप्रतिबोधद्वारेण विस्तारकाः। एतेन तेषामुत्सूत्रभाषणप्रतिषेधमाह। 'प्रशान्तवपुषः' बहिरलक्षितरागादि विकारशरीरभाजः, एतेनान्तरपि प्रबलरागाद्यभावं प्रकाशयति, अन्तस्तद्भावे बहिः सर्वदा प्रशान्तत्वानुपपत्तेः। 'प्रीतोल्लसच्चक्षुषः' द्विष्टानपि प्रतीत्य प्रसन्नोत्फुल्ललोचनाः, एतेन बहिः कोपविकारपरिहारमाविष्करोति। 'श्रामण्यर्द्धिं' प्राणातिपातविरमणादिपञ्चमहाव्रतविभूतिमुपेयुषः–आसेदुषः, एतेन दीक्षामूलं सर्वविरतिसम्पदं दर्शयति। 'स्मयमुषः' अहङ्कारतिरस्कारिणः, एतेन वाग्मित्वविद्वत्तादावभिमानहेतौ सत्यपि तदभावं प्रकटयति। 'कन्दर्पकक्षप्लुषः' मन्मथशुष्कतृणदाहिनः, एतेन सर्वव्रतमध्ये निरपवादब्रह्मव्रतदार्ढ्यं द्रढयति। 'सिद्धान्ताध्वनि' शुद्धागममार्गे 'तस्थुषः' स्थितवतस्तत्परानित्यर्थः, एतेन स्वयमुत्सूत्रक्रियानिषेधं प्रतिपादयति। 'शमजुषः' क्षमाभाजः, एतेनान्तरपि क्रोधनिरासं ज्ञापयति। 'सत्पूज्यतां' विवेकीजनसेव्यतां 'जग्मुषः' प्राप्नुषः, एतेन सकलश्रमणगुणगणसम्पत्तिमाविर्भावयति, निर्गुणानां विवेकिलोकपूजनासम्भवात्। 'विदुषः' विचक्षणान्, एतेन स्वसमयपरसमयसार विदुरतां विस्फारयन्ति। न चैवं गुणशालिषु यतिषु द्वेषः कर्तुं युक्तः, अणीयसोऽपि तद्द्वेषस्य सकलगुणिगतगुणद्वेषरूपत्वेनानन्तभवभ्रमणनिबन्धनत्वात्, सिद्धान्तेऽप्यभिहितं "भरहेरवयविदेहे, पन्नरस वि कम्मभूमिया साहू। एक्कम्मि हीलियम्मी, सव्वे ते हीलिया हुंति ॥ १ ॥ संतगुणछायणा खलु, परपरिवाओ य होइ अलियं च। धम्मे य अवमाणो, साहूपओसे य संसारो ॥ २ ॥" ततः प्रेक्षावता गुणिषु बहुमान एव कर्त्तव्यो, न द्वेष, इति वृत्तार्थः ॥ ३१ ॥

अथ कथमेवं विधानपि सत्साधून् खला न क्षाम्यन्ति? मिथ्यात्वप्राबल्यादिति ब्रूमः, अत एव तद्वतो मूढजनस्य नामजैनपथवर्त्तिनः स्वरूपं निरूपयन्नाह—

देवीयत्युरुदोषिणः क्षतमहादोषा न देवीयति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अहो! मिथ्यात्वग्रहिलो जन उरुदोषिणो देवीयतीत्यादि सम्बन्धः। 'अहो' इति विस्मये, ग्रहः चेतसोऽसत् निर्बन्धः, सोऽस्यास्तीति, अस्त्यर्थे इलु प्रत्ययः तद्धितः। इह मिथ्यात्वं प्रकरणादाभिनिवेशिकं गृह्यते, प्रायेण जैनमिथ्यादृष्टीनां "गोष्ठामाहिल-

माइणे" त्यादिनाऽऽभिनिवेशिकस्यैव तस्य प्रतिपादनात्। ततश्च तेन 'ग्रहिलः' प्रबलमिथ्याऽभिनिवेशगृहगृहीत इत्यर्थः। 'जनो' धर्मध्वजि–भक्तश्राद्धलोकः, उरवो–महान्तो यतिजनस्यात्यर्थमनुचितत्वेन 'दोषा' अपराधा रागद्वेषप्राणातिपातापादय उरुदोषाः तद्वत आचार्यादीनिति गम्यं। 'देवीयति' देवानिव–जिनानिवाचरति, यादृशा देवा नीरागा अतिशयादि मन्तश्च तादृशा अमी, तस्मादाराध्या इति देवैः तानुपमिमीते, न च तादृशां तेषां तदुपमानं समीचीनं, तेषां महादोषवत्त्वेन देवोपमानविधानस्य महापातक हेतुत्वात् परं मिथ्यात्वस्य विपर्यासरूपत्वात् विपरीतबुद्धिः तादृशानपि तथोपमिनोति, एवमुत्तरपदेष्वपि भावनीयं। 'क्षतमहादोषान्' प्रणष्टप्रागुक्तबृहदपराधान् युगप्रधानादीनिति शेषः। 'अदेवीयति' अदेवानिवाचरति, नामी देवसदृशाः, सदोषत्वात्–निरतिशयत्वाच्च, तस्मादनाराध्या इति। अत्र च क्षीणप्रायदोषाणां देवैरुपमानं सिद्धान्तेऽप्युदितं–"पडिरूवो तेयस्सी" इत्यादावाचार्यगुणवक्तव्यतायां 'प्रतिरूपः' सिद्धान्त तात्पर्यपरिच्छेददेशनाऽतिशयवत्त्वादिना तद्विषयबुद्धिजनकत्वात्तीर्थकरप्रतिबिम्बरूप इति व्याख्यानात्, स च विपर्यस्त–मतित्वात्तथा न करोति। एवमदेवप्राये देवबुद्धिर्देवप्राये चादेवबुद्धिरिति मिथ्यात्वस्वरूपं प्रतिपाद्या–गुरौ गुरुबुद्ध्यादिरूपं तदाह–'सर्वज्ञीयति' सर्वज्ञमिव–सर्वविदमिवाचरति 'मूर्खमुख्यनिवहं' अज्ञचूडामणिसमूहं स्वाभ्युपेतगच्छस्थितं यतिजनं, यथा–सर्वज्ञसदृशोऽयं मदीयो यतिजनः किं किं शास्त्रजातं न वेत्तीति। 'तत्त्वज्ञं' षड्दर्शनतर्ककर्कशधियं स्वपरसमयनिर्णयभूमिं सूरिविशेषं 'अज्ञीयति' अज्ञमिव–बालिशमिवाचरति, यथा–न किञ्चिदप्येष जानाति। अयमर्थः–न हि मूर्खशिरोमणेः सर्वज्ञेनोपमानं युक्तं नापि तत्त्वज्ञस्याज्ञेन, अत्यन्तमननुरूपत्वात्, परं स मिथ्याज्ञानात् एवमपि करोति। अधुना अमार्गे मार्गबुद्ध्यादिरूपं मिथ्यात्वं दर्शयति–'उन्मार्गीयति' उन्मार्गमिव–उत्पथमिवाचरति। 'जैनमार्गं' शुद्धं भगवत्पथं, यथा–नायं भगवत्प्रणीतो मार्गः किन्तूत्सूत्र इति। 'अपथं' कुमार्गं प्राक्प्रतिपादितमौद्देशिकभोजनादिकं स्वकल्पितं 'सम्यक् पथियति' सम्यक् पथमिव–सन्मार्गमिव–सन्मार्गमिवाचरति। अत्रापि यत्–जिनमार्गस्य चन्द्रवत्प्रकाशस्योन्मार्गेण–[तामसेन] नाम जैनेन सादृश्यापादनमुन्मार्गस्य च सत्पथतुल्यतापादनं तन्मिथ्यात्वोदयादिति। तथा 'स्वं' आत्मानं 'अगुणाग्रण्यं' निर्गुणधुरन्धरं 'कृतार्थीयति' कृतार्थमिव–विहितसकलप्रयोजनमिवाचरति। अत्रापि स्वस्य निर्गुणमुख्यस्य 'कृतार्थेन' गुणिमुख्येनोपमानमविद्यावशादिति। एवं तावल्लोकोत्तरिकजनविषयं मिथ्यात्वस्वरूपं प्रदर्श्य बाह्यलोकविषयममि प्रसङ्गात् किञ्चित्–दर्श्यते–'मिथ्यात्वग्रहिलो जन' आभिग्रहिकादि-

मिथ्यात्वात्-जैनमतबहिर्भूतो लोकः 'देवीयति' देवानिवाचरति, मुक्त्यर्थमाराध्यतया देवत्वेनाभ्युपै[ती]ति यावत्। उरुदोषिणो-रागादिमतो लोकप्रतीतान् हरिहरादीन्, क्षत-महादोषान् वीतरागान् लोकोत्तरविश्रुतान् अदेवीयति-अनाराध्यत्वेनानुमन्यते। अथ कथम्-एतन्मिथ्यात्वमिति चेत्? उच्यते-अतस्मिन्-तदिति प्रत्ययस्यैतल्लक्षणत्वात्, तस्मान् न रागादिमन्तो देवाः। तथा सर्वज्ञीयति-सर्वविदयमित्यभिमन्यते मूर्खमुख्यनिवहं-अन्यपरतीर्थिकसमूहं प्राणातिपाताद्यनिवृत्तं। तथा तत्त्वज्ञं-समस्तशास्त्ररहस्यवेदिनं पञ्च-महाव्रतधारिणं सर्वज्ञप्रायं युगप्रधानसूरिं 'अज्ञीयति' मूर्खीयति। एवं च तत्त्वज्ञे गुरावज्ञ-त्वारोपो मिथ्यात्व-विजृम्भितं, एतावता चागुरौ गुरुभावना गुरौ चागुरुधीरिति मिथ्यात्वं लक्षितं। उन्मार्गीयति-उत्पथत्वेन मन्यते जैनमार्गं, अपथं-कुतीर्थिकमतं सम्यक्पथीयति सन् मार्गीयति तदा स्वमगुणाग्रण्यमित्यादि तु पूर्ववत्। तदाश्चर्यम्-एतन्मिथ्यात्वोपहता यदेवं विपर्ययेण सर्वमवसाय गुणिनो द्विषन्तीति वृत्तार्थः ॥ ३२ ॥

ननु किमिदानीं गुणिभिः प्रयोजनं? सङ्घ एव भगवान्-निशेषदोषमोक्षक्षमः समाश्रीयतां, भगवताऽपि च तस्य महत्त्वेन नमस्कृतत्वात् तथा च तदाज्ञया वर्त्तमानानां मोक्षः प्राणिनां सम्पत्स्यत इत्याशङ्क्या-धुनातनसङ्घवशवर्त्तिनो भव्यजनस्याक्षेप-पूर्वं मोक्षाभावमुपदिदर्शयिषुराह—

सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत ॥ ३३ ॥

व्याख्या—'जन्तवो' धर्मार्थिनो भव्यसत्त्वाः त एवाबलत्वात्-मुग्धत्वात् सत्त्व-रहितत्वात्-च 'हरिणा' मृगाः तद्व्रातस्य-तत्समुदायस्य-उत्पथप्रवृत्त-उत्सूत्रप्रज्ञापकः श्रुतज्ञाननिरपेक्षः स्वच्छन्दचारी सातलोलुपः साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकासमवायो भूयानिह सङ्घ उच्यते, स एव बलिष्ठत्वात् क्रूरत्वाच्च 'व्याघ्रः' शार्दूलस्तद्वशस्य-तदधीन-स्य-दासवत्-यत्र तत्र नियोज्यस्येति यावत्। द्वितीयपक्षे ग्रासविषयीभूतस्य 'मोक्ष' इति श्लिष्टपदं, तेन जन्तुपक्षे 'मोक्षो' निर्वाणं, हरिणपक्षे च छुटनं व्याघ्रात्पलायनमिति यावत्। 'कुतः' कः स्यात्? न कथञ्चिदित्यर्थः। ननु मुक्त्यनुगुणा-नुष्ठाना-भावात्तस्य मोक्षाभावः, किमायातं? सङ्घस्येत्यत आह-'मुक्त्यै' निःश्रेयसार्थं 'कल्पितदानशील-तपसोऽपि' स्वबुद्ध्याविहित जिनादिवितरण देशचारित्रानशनादेरप्यास्तां तदितरस्येत्यपि शब्दार्थः। कथं तर्हि मोक्षाभाव? इत्यत आह-'सङ्घाय' लिङ्गिसमुदायाय 'देयानि' कृतानि। देयेत्राचेति त्रा तद्धितः। ततश्च 'सङ्घत्राकृतानि' श्रावकलोकेन भक्त्या स्वद्र-विणेन निर्माप्य लिङ्गिभ्यः तत्-देशनयैव वासाद्यर्थं समर्पणेन तदायत्तीकृतानि 'चैत्यानि'

जिनायतनानि, तान्येव 'कूटा' हरिणबन्धनयंत्रविशेषाः। अथ कूटश्च बन्धहेतुरभिधीयते, मोचनहेतु-बन्धनहेत्वोर्महद्वैषम्यं, तथा च सिद्धान्तविधिना लिङ्गिनां निश्रानिवासविरहेण श्राद्धैर्यानि चैत्यानि विधाप्यन्ते तानि संसारगुप्तिमोचननिबन्धनानि भवन्ति, एतानि प्रकृतचैत्यानि मुग्धान् प्रोत्साह्य स्वनिवासाद्यर्थं कथम्—आजन्मामी श्राद्धा अस्माकं भोग्या भविष्यन्तीत्याशयेन तेषां तत्र ममकारोत्पादनेन नियमाद्यर्थं लिङ्गिभिः कारितानि, तत्कथमेतेषां मोचनहेतुत्वं ? प्रत्युत बन्धननिबन्धनत्वमेव। एवं चैत्यानां कूटैरत्यन्तं बन्धहेतुसाम्येना-भेदविवक्षणाद्युक्त उपमानोपमेयभाव इति। सङ्घवाकृतचैत्यकूटेषु 'पतितस्य' प्रतिबद्धस्य कथञ्चित् सत्पथं प्रतिपत्सोरपि तत्र गोष्ठिकत्वादिना स्वकारितप्रतिमा ममत्वादिना वा नियमितत्वात् ततो निर्गन्तुमशक्तस्येति यावत्। द्वितीयपक्षे 'पतितस्य' बद्धस्य। तथा 'अन्तस्तरां ताम्यतः' सन्मार्गबहुमानित्वात्ततो निर्जिगमिषोरपि निर्गमालाभात् भविता कदाचित्तद्दिनं यत्रैतस्मात् असत्पथादहं निर्गमिष्यामि इत्येवं तरामतिशयेनान्तःकरणमध्ये 'ताम्यतः' खिद्यमानस्य, कुत ? इत्यत आह—तच्छब्देन सङ्घः परामृश्यते, तस्य-सङ्घस्य 'मुद्रा' चतुर्दश्यादिकाः पर्वतिथयः, एतदाचार्यसंवादेन तपोनियमादिकृते प्रमाणीकर्त्तव्या, नान्यथेत्येवमादिका व्यवस्था, ततः क्षुद्रैर्मुद्रा प्रवर्त्तिता, वराकान् मुग्धमारङ्गान् हा! बद्धुं वागुरा इव। ततश्च तन्मुद्रैव 'दृढं' निबिडं 'पाशो' मृगादिबन्धनार्थं दवरकादिनिर्मितग्रन्थिविशेषः तेन 'बन्धनं' संयमनं, तद्वत-स्तदन्वितस्य। सहि सङ्घमुद्रामुद्रितः ततो निर्गमनवार्त्तामपि कस्यापि पुरतो वक्तुं न शक्नोति, किम्पुनर्निर्गन्तुमित्यर्थः। तथा एतस्य-सङ्घस्य क्रम-स्तन्निर्दिष्टा रात्रिस्नात्रादिका परिपाटी, तत्स्थायिन-स्तद्वर्तिनः। द्वितीयपक्षे तु हरिणप्रहारार्थमुत्क्षिप्य सज्जितः पादः क्रम तद्गोचरगतस्येति। ततोऽयमर्थः—यथा व्याघ्रग्रासविषयस्य तन् क्रमगोचरस्य, तत्रापि कूटपतितस्य, अन्यथा हि पलाय्यापि कथञ्चित्ततो मोक्षः सम्भवति। तत्रापि निर्जिगमिषया चेतसि ताम्यतो पाशसंयमितत्वेनाङ्गस्पन्दनमात्रमपि कर्त्तुमशक्तस्य हरिणजातस्य स कथञ्चित्ततो मोक्षः सम्भवति, एवमस्यापि चैत्यप्रतिबद्धस्य सन्मार्गस्पृहया निर्गन्तुं मनसि खिद्यमानस्यापि सङ्घमुद्रया कीलितत्वेन सत्पथाभ्युपगमं प्रति उद्यन्तुमप्यशक्नुवतः तत्क्रममनतिक्रामतः सम्प्रतितन सङ्घाद्यावश्यस्य जन्तुसन्दोहस्य न निर्वाणं सञ्जायत इति। अथ कथमिह सङ्घस्य क्रूरतया व्याघ्रेणोपमानं ? अत एव सुखशीलताऽनुरागादे सङ्घमपि सङ्घ इत्यभिदधतां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते। यदाह—" असंघं संघं जे, भणंति रागेण अहव दोसेण। छेओ वा मूलं वा,

पच्छित्तं जायए तेसिं ॥ १ ॥" तस्मादुक्तं क्रूरतया प्रकृतसङ्घस्य व्याघ्रतया[नि]रूपणं, तथा च सिद्धः तद्वशस्य प्राणिगणस्य मोक्षाभाव इति। नन्वेवं तर्हि सिद्धान्तोक्तलक्षणस्य सङ्घस्य सम्प्रत्यभावात् भवन्मते तीर्थोच्छेदः प्रसज्यत इति चेन्न, यदुक्तमागमे—"निम्मलनाणपहाणो, दंसणसुद्धो चरित्तगुणजुत्तो। तित्थयराणानिज्जो, वुच्चइ एयारिसो संघो ॥१॥ आगमभणियं जो, पन्नवेइ सद्दहइ कुणइ जहसत्ति। तेलुक्कवंदणिज्जो, दूसमकाले वि सो संघो ॥ २ ॥" अन्यथा "दुप्पसहंतं चरणं" इत्यादेरादुःषमान्तं चारित्रानुवृत्तिप्रतिपादकस्य भगवद्वचनस्य व्याघातापत्तेः, भावसङ्घमन्तरेण तावन्तमनेहसं चारित्रानुवृत्तेरसम्भवात्। ननु भवतु सिद्धान्तप्रामाण्यात्—इदानीमपि भावसङ्घोऽल्पीयांस्तथापि मया तावन्न दृश्यत इति चेत् ? अर्वाग्दर्शितत्वेन मात्सर्येण वा भवतः तददर्शनस्या—न्यथासिद्धत्वात्, दृश्यते च कषायकलुषितचक्षुषां सन्निकर्षेऽपि निषेदुषो मनुष्यादेरनुपलम्भः, ततो यदि त्वं शुद्धपथस्पृहयालुस्तदा मात्सर्यमुत्सार्य माध्यस्थ्यमास्थाय सूक्ष्मप्रेक्षया परीक्षस्व भावसङ्घं, येन क्वचित्प्रेक्षसे, मैवमेव नास्तिकतामवलम्ब्य भवाम्भोधौ मङ्क्षीरिति। तस्मात् भगवद्वचनान्यथाऽनुपपत्त्या सम्प्रत्यप्यस्ति भावसङ्घः, स एव च प्रेक्षावता दुस्सङ्घता परिहारेणाभ्युपेतव्य इति वृत्तार्थः ॥ ३३ ॥

तदेवमौद्देशिकभोजनादि द्वारदशकेन लिङ्गिभिः प्रज्ञापितस्य धर्मस्योत्पथत्वप्रकाशनेन जडानां चेतसि कोपाविर्भावं सम्भावयंस्तत्क्षणं तत्प्रदर्शनप्रयोजनमाविश्चिकीर्षुराह—

इत्थं मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चित् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'इत्थं' प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण 'मिथ्यापथकथनया' चैत्यवासिप्ररूपितोत्सूत्रमार्गप्रकटनया करनभूतया 'तथ्ययाऽपि' यथार्थयाऽपि, असत्यया हि तया कोपोत्पादाद्यपि कस्यापि सम्भाव्यते इत्यपि शब्दार्थः। 'इह' लोके प्रवचने वा 'कश्चित्'जिनशासनस्थो मा ज्ञासीत्, यदिदं मिथ्यापथकुपथत्वप्रकटनं 'अनुचितं' असङ्गतं, यदि हीदं रागद्वेषाभ्यामतथ्यं विधियेत तदाऽनौचित्यं स्यात्—न चैवमस्ति। अथो इत्यानन्तर्येऽव्ययं। तेनानुचितज्ञानानन्तरं 'मा कुपत्' मा क्रुध्यत् 'कोऽपि' कश्चित्। यदि ह्येतदनुचितं स्यात्तदा तज्ज्ञानान्तरं कोपोऽपि कथञ्चित् युज्येत, न चैवं, तस्मान्न कोपनीयं। अथ यद्येवं मिथ्यापथकथनेन परेषां कोपाविर्भावशङ्का तदाऽसौ न कथनीय एव, परसङ्क्लेशहेतोः सत्यस्यापि वचनस्यावक्तव्यत्वेनाभिधानात्। यस्मात् हेतोर्जैनभ्रान्त्या साधुसाध्वी-श्रावकश्राविका चैत्याद्याकारदर्शनाद् आर्हतमेतत्प्रवचनमिति मिथ्याज्ञानेन, नहि लिङ्ग्यादयः तत्त्वत आर्हताः, उक्तन्यायेन तेषां तथा त्वस्यापाकरणात्।

तथा—एतेऽपि जडाः कुवासनावासितान्तःकरणा वस्तुतोऽनार्हतम् अप्येतल्लिङ्गि वर्त्मार्हतमिति विपर्यस्यन्तीति जैनभ्रान्तितया ' कुपथपतितान् ' कुमार्गप्रस्थितान् 'नून्' मानवान् 'प्रेक्ष्य' अवलोक्य 'तत्प्रमोहापोहाय' कुपथपतितनर–प्रागुक्तप्रबल–मिथ्याज्ञानोपनोदाय ' इदं ' एतल्लिङ्गिनां मिथ्यापथस्वरूपं ' किमपि ' दिङ्मात्रं ' कृपया ' कथममी मूढाः तीर्थ्याभासकदर्थिताः कुपथस्वरूपं विज्ञाय तत्परिहारेण सत्पथमभ्युपेत्य भवोदधिं तरिष्यन्तीत्यनुकम्पया ' कल्पितं ' भव्यं प्रतिपिपादयिषया सकलं सङ्कलय्य प्रथमं चेतसि सज्जितं, ततो ' जल्पितं ' अक्षररचनया दृब्धं, तदन्तरेण परस्य पुरतः सम्यक्प्रतिपादितुं दुःशक्यत्वात् । चः समुच्चये । अतः कुपथपङ्कनिमज्जन–नरनिकरोद्धरणाय मया किञ्चित् जल्पितमिदमिति सुष्ठूक्तं भगवता प्रकरणकारेणेति वृत्तार्थः ॥ ३४ ॥

अथ कथमिति दिङ्मात्रमेवाभिहितं ? यावता निश्शेषदोषप्रकाशनेन हि मिथ्यापथः सुज्ञानः सुत्यजश्च भवतीत्याशङ्क्य तन्निरासद्योतकेन ' यत ' इति पदेनान्तरापूर्य तद्दोषामानन्त्येनाभिधानाशक्यत्वं निदर्शनयापि भावयन्नाह—यतः—

प्रोद्भूतेऽनन्तकालात्कलिमलनिलये नाम नेपथ्यतोऽर्हन् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—' यत ' इति यस्माद्धेतोरस्मिन् दुरध्वेऽनन्तकालात्प्रोद्भूते यो दोष सङ्ख्यां विवक्षेदित्यादिसम्बन्धः । तत्र ' प्रोद्भूते ' सञ्जाते ' अनन्तकालात् ' अनन्तेनानेहसा, अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणी परिवर्त्तनेनास्य कुमार्गस्याश्चर्यदशकान्तः पातित्वेन सिद्धान्ते प्रादुर्भावप्रतिपादनात् । 'कलिमलनिलये' दुष्षमापातकनिवासे, दुष्षमाकालो हि अपरकालापेक्षया महापापः, ततश्चात्रातीवासमञ्जसप्रवृत्तिदर्शनात् सम्भाव्यते–सकलं दुष्षमामलं दुरध्वेऽस्मिन्–निवसति, अथवा 'कलिरेव' कलह एव 'मलं' किट्टं, तस्य निलये । तथा ' नाम ' अभिधानं, यथा लिङ्गदर्शनेऽपि लोका वक्तारो–भवन्ति–अमी जैना अमी सि(श्वे)ताम्बरभिक्षव इत्यादि, नेपथ्यं–रजोहरणादिवेषः, ततो द्वन्द्वः । ततश्च नामनेपथ्यतः–सुविहितसाधारणात् नामश्रवणात् नैपथ्यदर्शनाच्चार्हन्मार्गं भ्रान्ति–तात्त्विकजिनपथसादृश्यं 'दधानेऽपि' बिभ्राणे, नन्वयं पन्थाः तर्हि जिनमार्ग एव भविष्यतीत्यत आह–अथ चेति प्रतिकूलपक्षान्तरद्योतकमव्ययम् ' तत्त्वतः ' परमार्थतः ' तदभिमरे ' अर्हन्मार्गघातुके, अयमर्थः–यथा ' अभिमराः ' प्रच्छन्नघातुकाः स्ववेषेण राजादिघातं कर्त्तुमशक्नुवन्तो वेषपरावर्त्तेन राजादिकं व्यापादयन्ति, तथैतेऽपि गृहस्थवेषेणार्हन्मार्गोच्छेदं तथाविधातुमपारयन्तो यतिवेषेण विरुद्धप्ररूपणचेष्टितादिनाऽर्हन्मार्गमुच्छिन्दन्तीति भवंति–अभिमराः । ततश्च दुरध्व–दुरध्ववर्त्तिनोरभेदोपचारात् इत्थमुपन्यासः । 'अस्मिन्'

प्राग्वर्णितस्वरूपे 'दुरध्वे' कुमार्गे 'कारुण्यात्' मास्मामी मूढन् जडा अस्मिन् कुपथ-पङ्क इति दयाऽध्यवसायात् 'यः' कश्चिन्महासत्त्वो 'नृषु' लिङ्गिभावनाभावितेषु मर्त्येषु 'कुबोधं' कुदेशनोत्पादितमसत्पथेपि सत्पथभ्रमं 'निरसिसिषु' विभित्सुः। यदि हि कथञ्चिदमीषां मूढानां दुरध्वदोषमामस्य दर्शनेनायं कुबोधो विध्वंसते तदाऽमी उपकृता भवन्तीत्याशयेन 'दोषसङ्ख्यां' दूषणेयत्तां 'विवक्षेत' अभिधित्सेत्, एतावत् सङ्ख्या अत्र कुमार्गे दोषाः सन्तीति वक्तुमिच्छेदित्यर्थः। स पुमान् 'अम्भो' जलं अम्भोधे-रर्णवस्य जलं 'प्रमित्सेत्' इयदत्राम्भ इति चुलुकादिभिः संचिख्यासेत्। जलधिजलप्रमित्सानिदर्शनेन दुरध्वदोषाणामसङ्ख्येयतामिच्छया अपरितुष्यन् विवक्षितानन्त्य चिख्यापयिषया निदर्शनान्तरमाह–'सकलगगनोल्लङ्घनं' पद्भ्यां समग्रान्तरिक्षान्त प्रापणं, चेति पक्षान्तरे, विधित्सेत्–चिकीर्षेत। अयं च निदर्शननामालङ्कारः। ततोऽयमर्थः–यथा सागराम्भोऽतिभूयस्त्वात् प्रमातुमशक्यं, तथा दुरध्वस्य महामिथ्यात्वरूपस्य लोकोत्तरविरुद्धासमञ्जसचेष्टित–शतसहस्रसम्भृ[संवृ]तत्वात् तद्दोषसङ्ख्याऽप्यतिबाहुल्याद्वक्तुमशक्येति, अतो दिङ्मात्रमेवोदाहृतं, तावन्मात्रेणापि केषाञ्चित्पुण्यात्मनां मोहापोहेन सत्पथाभ्युपगमो भविष्यतीति धियेति वृत्तार्थः॥ ३५॥

ननु–उक्तन्यायेन लिङ्गिनः चेत् यतयो न भवन्ति तर्हि न सन्त्येव, क्वचित्सम्प्रति श्रुतोक्तलक्षणभाजो यतयोऽदर्शनात्, तथा च ज्ञानदर्शनाभ्यामेव भगवत्तीर्थमनुवर्त्तेत इति मन्यते तं प्रत्याह—तथा–

न सावद्याम्नाया न वकुश–कुशीलोचित–यतिः॥ ३६॥

व्याख्या—तथेति, यथा सम्प्रति भूयांसो लिङ्गिनः सन्ति 'तथा' तेन प्रकारेण विरलाः सुविहिता अपि, इत्येतदेवाह–तेऽद्यापि स्युरिह यतय इति सम्बन्धः। 'आम्नायो' गुरुशिष्यप्रतिशिष्यादिक्रमेण सम्प्रदायः 'सावद्यः' प्राग्वर्णित औद्देशिकभोजनाद्युपभोगादेः सपाप आम्नायो येषां ते तथा, नञा तेषां निषेधः। अधुनातनरूढ्यौद्देशिकभोजन–चैत्यवासादिना सावद्यसम्प्रदायवन्तो येन भवन्ति, तथा 'वकुशं' शबल–मतिचारपङ्केन समलं, प्रक्रमाच्चारित्रं, ततश्च वकुशचारित्रयोगात्साधवोऽपि वकुशाः ते च द्विविधा–उपकरण–देहभेदात्। तत्रोपकरणवकुशा ये वर्षाप्रत्यासत्ति–मन्तरेणापि कदाचित् वस्त्रादिकं धावन्ति, श्लक्ष्णाद्यंशुकादि च जिघृक्षन्ति कदाचित्परिदधते च, पात्रदण्डकाद्यपि घृष्टं तैलादिम्रक्षणोत्पादित तेजस्कं च धारयन्ति, उपकरणमप्यतिरिक्तं प्रार्थ-

यन्त इति । देहबकुशास्तु ये करचरणनखादीन् कदाचित् निर्निमित्तं भूषयन्तीति । इमे च द्विविधा अपि शिष्यादिपरिवारादिकां विभूतिं तपः पाण्डित्यादि प्रभवं च यशः प्रार्थयन्ते, तदासादने न च प्रमोदन्ते, छेदार्हैश्चातिचारैर्बहुभिः शबलिता अपि कर्मक्षयार्थमुद्यता इत्यादिलक्षणयुक्ता बकुशाः । यदुक्तं-" उवगरण-देह-चोक्खा, इड्डीरसगारवा सिया निच्चं । बकुमबल छेयजुत्ता, निग्गंथा बाउसा भणिया ॥ १ ॥ " तथा कुत्सितं 'शीलं' चरणं येषां ते तथा, तेऽपि द्विधा-आसेवना-कषायभेदात्, तत्रासेवनाकुशीला ये ज्ञान-दर्शनचारित्रतपांसि किञ्चिदुपजीवन्ति, कषायकुशीलास्तु ये क्रोधादिभिः कषायैर्ज्ञानादि-गुणान् युंजन्ति, अथवा कषायैर्ज्ञानादीन् ये विराधयन्ति भवोच्छेदायोपस्थिता अपीत्यादिलक्षणभाजश्च कुशीला इति । ततो बकुशाश्च कुशीलाश्चेति द्वन्द्वः । तेषामुचिता-योग्या 'यतिक्रिया' प्रत्युपेक्षाप्रमार्जनप्रभृतिका साधुसामाचारी, तथा 'मुक्ता' रहिता ये न भवन्ति, प्रत्यहं यतिकृत्यं च तत्-"पडिलेहणापमज्जणा-भिक्खरिया-लोयभुंजणा चेव । पत्तगधुयणवियारा, थंडिलमावस्सयाई ॥ १ ॥ " इत्यादि दशविधचक्रवालसामा-चारीचरिण इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीउमास्वातिवाचककृततत्त्वार्थसूत्रे भाष्ये च " पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः" [अ. ९ सू. ४९] [भाष्ये] पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति । तत्र सततमप्रतिपातिनो-जिनोक्तादागमात्-निर्ग्रन्थपुलाकाः । नैग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषाऽनुव-र्त्तिनः ऋद्धियशस्कामाः स्वतगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराः । अविविक्ता इति न असंय-मात् पृथग्भूताः कर्चरिका कल्पितकेशाः, एवंविधः परिवारो येषां ते, छेदशबलयुक्ताः सर्वदेशच्छेदार्ह अतीचारजनितशबलेन-वैचित्र्येण युक्ताः, बकुशाः कुशीला द्विविधा-प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च, तत्र प्रतिसेवनाकुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः ये अनियतेन्द्रियाः अजितेन्द्रियाः रूपादिविषयेक्षणकृतादराः कथञ्चित् क्वचिदुत्तरगुणेषु विरा-धयन्तः चरन्ति, ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । प्रतिसेवनाऽधिकारे प्रतिसेवनापञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद् बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाकः स्यात्, मैथुनमित्येके । बकुशो द्विविधः-उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च । तत्रोपकरणाभिष्वक्त-चित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तः-विविधं दशभेदेन, विचित्रं-रक्तपीतादि-भिर्वर्णैर्बहुमूल्योपकृतियुक्तं बहुविशेषोपकरणकाङ्क्षायुक्तो । बहु-विशेषे[ण] मृदु-दृढ-रुचिर-वर्णादि-युक्तोपकरणे जाताभिलाषः, नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी, नित्यं-सर्वदा 'तस्य' उपकरणस्य 'प्रतिसंस्कारं' प्रक्षालन-दशाबन्धन-पटिकासंवेष्टनादिकं, तत्सेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति । शरीराभियुक्तचित्तो विभूषार्थं तत्प्रतिसंस्कारसेवी शरीर-

बकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलश्च मूलगुणानविराधयन् नुत्तरगुणेषु काश्चिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशील--निर्ग्रन्थ--स्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति। पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, बकुश-प्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः, सर्वेषामपि जघन्यः पल्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्मे उपपातः। अत्र च पुलाक-निर्ग्रन्थ-स्नातकपरिहारेण यत् बकुसकुशीलोचितक्रियायुक्तयतिगवेषणं तत्तैरेव सर्वतीर्थकराणां तीर्थप्रवृत्तेः, " सव्वजिणाणं जम्हा, बकुसकुसीलेहिं वट्टए तित्थं। " इति वचनात्। तथा 'न युक्ता' न स्पृष्टा 'मदो' जात्यादिभिरात्मोत्कर्षप्रत्ययः 'ममता' गृहस्थादिषु प्रतिबन्धो, ममैते योगक्षेमं वहन्ति, ततो यद्यमीषां काप्यनिष्टं न सम्पद्यत इत्यादि-स्नेहेन तत्सुखदुःखाभ्यां यतेरपि तद्वत्तेति यावत्। 'आजीवनं' आजीविकानिर्वाह-स्तस्माद् भयं, तदभावसम्भावनया भीतिर्गृहिभिर्विदितशैथिल्याः सिद्धान्ताध्ययनादिविर-हिता वा गृहस्थच्छन्दोऽनुवृत्तिं विना निस्पृहतया शुद्धं प्ररूपयन्तो वा, एतत्कृतनिर्वाहा-भावेन कथं वयं जीविष्याम। इत्याद्यध्यवसाय इत्यर्थः। ततश्च मदश्चेत्यादि द्वन्द्वः। तैः। महासत्त्वानां हि स्वजन--धन--पुत्र कलत्रादि--सङ्गत्यागेन प्रव्रज्याग्राहिणां कुतस्त्यो गृहस्थादिषु ममताद्यवकाशः ?, क्लीबानामेव तद्भावात्। एवं च सति ये ममतादिभिर्व-र्जिताः। तथा 'सङ्क्लेशः' अविच्छिन्नप्रवाहतया प्रतीयमानो रौद्राध्यवसायः तस्य 'आवेश' आवेगः-उत्कर्षो येषामिति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। ते, तथा ये न भवन्ति, सञ्ज्वलन-कषायोदयत्वेन तेषां तन्निबन्धनत्वप्रथमादिकषायोदयाभावात्। 'न कदभिनिवेशा' अनाभोगादिनाऽन्यथाकारं स्वयं प्रज्ञप्ते अभ्युपगते वा वस्तुनि कुत्सितमानसाग्रहवन्तो ये न भवन्ति, तत्कारणमिथ्याभिमानाभावात्। 'न कपटप्रिया' मायाप्राधान्येनानु-ष्ठाननिष्ठा ये न भवन्ति, तन्निमित्तजनरञ्जनापरिणामाभावात्। ममताजीवनभयादयश्च साधुत्ववादकत्वात्-यतीनां सर्वथा हेया एव इत्यतस्तेषामिह निषेधो विशेषेण प्रदर्शितः। यदुक्तं-" एवं च संकिलिट्ठा, माइट्ठाणम्मि निच्चतल्लिच्छा। आजीवियभयघत्था, मूढा नो साहुणो नेया॥ १॥ " य एवं गुणगणोपेतास्ते 'यतयः' साधवः 'अद्यापि' सुसाधुरहिततया शङ्किते दुष्षमाकालेऽपि, आस्तां दुष्षमसुषमादावित्यपि शब्दार्थः। स्युर्भवेयुः 'इह' प्रवचने 'श्रुतरतयः' सिद्धान्ताध्ययनाध्यापनव्याख्यानश्रावणपरा-यणाः, अध्ययनादिकर्त्तव्यता विषयतयैव तेषां शास्त्रीयशिक्षाश्रवणात्। यदुक्तं-" शास्त्रा-ध्ययने चाध्यापने च, सञ्चिन्तने तथात्मनि च। धर्मकथने च सततं, यत्नः सर्वात्मना कार्यः॥ १॥ " न तु लिङ्गिन इव प्रव्रज्यादिनमारभ्य व्यवहारमन्त्रादिप्रयोगतत्पराः। एतेन तेषामुन्मानाद्यभावप्रतिपादितः, महात्मनां सूत्राध्ययनादेरेव फलत्वात्। एतेन

न सन्त्येव सम्प्रति यथोक्तलक्षणभाजो यतयोऽदर्शनादित्यादि यदाशङ्कितं तदपास्तं, कालादिदोषात्-प्रायशः तथाविध-यतीनामदर्शनेऽपि क्वापि ते न सन्तीत्यनाश्वासस्य कर्त्तुमयोग्यत्वात्, तदुक्तं-"कालाइदोसओ कहवि, जइवि दीसंति तारिसा न जई। सव्वत्थ तहवि नत्थित्ति, नेव कुज्जा अणा[स्सासं]आसं (?) ॥ १ ॥" आतीर्थमागमे बकुश-कुशीलानामनुवृत्तिश्रवणात्। यदाह-"न विणा तित्थं नियंठेहिं, नातित्थं व नियंठया। छक्कायसंजमो जाव, ताव अणुसज्जणा दुन्हं ॥ १ ॥" इति, बकुशकुशीलयोरनुवृत्तिरिति तत्र व्याख्यानात्, तथा च ज्ञानदर्शनाभ्यामेव सम्प्रति तीर्थमिति ब्रुवाणस्य भवतः प्रायश्चित्तापत्तेः, यदाह-"कसिंचि आएसो, दंसणनाणेहिं वट्टए तित्थं। वुच्छिन्नं च चरित्तं, वयमाणे भारिया चउरो ॥ १ ॥" असद्ग्रहात् तदनिच्छतश्च सङ्घबाह्यत्वप्रसङ्गात्, यदुक्तं-"जो भणइ नत्थि धम्मो, नय सामाइयं न चेव य वयाइं। सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण ॥ १ ॥" तस्मात् सन्त्येवाद्यापि विरलाः प्राग्वर्णितगुणा मुनयो। यदाह-"तो भासरासिगहविहुरिए त्ति, तह दक्खिणे वि इह खित्ते। अत्थि च्चि[चि] य जा तित्थं, विरलतरा केइ मुणिपवरा ॥ १" इति वृत्तार्थः ॥ ३६ ॥

तदेवं दुष्षमायामपि सुविहित यतिसत्तां व्यवस्थाप्य साम्प्रतं सामान्यविशेषगुणवत्तया तेषामेव वन्दनीयतां प्रदर्शयन्नाह—

संविग्नाः सोपदेशाः श्रुतनिकषविदः क्षेत्रकालाद्यपेक्षा ॥ ३७ ॥

व्याख्या—वन्द्याः सन्तु साधवोऽस्मिन्निति सम्बन्धः। 'संविग्ना' मोक्षाभिलाषुकाः भवभीरवो वा, न तु परलोकवैमुख्येनेहलोकप्रतिबद्धाः। एवंविधा अपि स्वनिस्तारका एव भविष्यन्ति, तथा च किं? तैरित्यत आह-'सोपदेशा' धर्मदेशनातत्पराः, न त्वालस्य सातशीलत्वादिना तद्विमुखाः, तं विना भव्योपकारामात्रात्तस्य चावश्यं यतिना विधेयत्वात्, अन्यथा आत्मम्भरित्वमात्र प्रसङ्गात्, यथाकथञ्चित् तद्भवमुक्तिगामुकेनापि च कृतकृत्येन भगवता भविकोपचिकीर्षया तदादरणात्, ग्लादिनाऽप्याचार्येण धर्मव्याख्यानमवश्यं कर्त्तव्यमित्यागमेऽभिधानाच्च। यदाह-"दो चेव मत्तगाइं, खेलकाइय सदोसगस्सुचिए। एवं वि निच्चं, वक्खाणिज्जत्ति भावत्थो ॥ १ ॥" 'श्रुतनिकषविदः' आगमरहस्यनिपुणाः, एतेन गीतार्थतया धर्मकथाधिकारित्वमाह, अगीतार्थस्य तदयोगात्। एवंविधा अपि स्वयं क्रियाशिथिला भविष्यन्तीत्यत आह-'क्षेत्रकालाद्यपेक्षं' अस्मिन् क्षेत्रे अमुष्मिन् काले, आदिग्रहणाच्छरीरबलादिग्रहः, एवंविधे

च बले सति विधीयमानमेतदनुष्ठानम् अस्माकमात्मसंयमशरीरयोर्बाधकं भविष्यतीति देशसमयबलानुसार्यनुष्ठानं विहारक्रमादि क्रियाकाण्डं येषां ते तथा, अनेन पदद्वयेन ज्ञानक्रियात्वयानुगामित्वं तेषां निवेदितं, तत्प्रधानत्वात् दीक्षायाः केवलयोरनिष्टफलत्वाभिधानेन समुदितयोरेव तयोः पङ्ग्वन्धयोरिवेष्टफलसाधकतया तैः इष्टत्वात्। एवंरूपा अपि कुतोऽपि कदाग्रहगरलोद्गारात्—उत्सूत्रं प्रज्ञापयिष्यन्तीत्यत आह—'शुद्धमार्गप्रकटनपटवः' यथार्थश्रुतपथप्रकाशचतुराः, अणीयसोऽप्युत्सूत्रपदस्य दारुणं विपाकं विन्दतः कथमपि ते तन्न वदन्तीत्यर्थः, अत एव कथञ्चित् कर्मदोषात् चरणकरणालसेनापि शुद्ध एव मार्गः प्ररूपणीयः, यदुक्तं—"हुज्ज हु वसण प्पत्तो, सरीरदुब्बलयाइ अयिइ असमत्थो। चरणचरणे असुद्धो, सुद्धं मग्गं परूविज्जा ॥ १ ।" तथाविधस्यापि शुद्धपथप्ररूपणात् प्रेत्य बोधिप्राप्त्या कथञ्चित्संसारपारावार निस्तारात्, अशुद्धपथप्ररूपकस्य दुष्करक्रियाकारिणोऽप्यमुत्र बोधिहत्याऽनन्तभवनिर्वर्त्तनात्, अत एव तादृशस्य दर्शनमात्रमपि श्रुते निवारितं, यदाह—"उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं। वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥ १ ॥" अतः शुद्धपथमेव ते प्रथयन्ति, अत एव 'प्रास्तमिथ्याप्रवादाः,' स्वपक्षे निराकृतोत्सूत्रोच्चावच-वक्तव्यता परपक्षे तु निरस्तप्रवादुकमताः 'वन्द्याः' यथाऽर्हं द्वादशावर्त्तवन्दनादिना प्रणमनीयाः 'सत्साधवः' सुविहितयतयः अस्मिन् जिनशासने दुःषमाकाले वा 'नियमो' द्रव्याद्यभिग्रहः 'शमः' कषायनिग्रहः 'दम' इन्द्रियवशीकारः 'औचित्यं' सर्वत्र योग्यताऽनुसारेण विनयादिप्रयोक्तृत्वं 'गाम्भीर्यं' अलक्ष्यहर्षदैन्यादिविकारत्वं 'धैर्यं' विपत्स्वपि चेतसोऽवैक्लव्यं 'स्थैर्यं' विमृश्य कार्यकारित्वं 'औदार्यं' विनेयादीनामध्यापनादिविपुलाशयता 'आर्यचर्या' सत्पुरुषक्रमवृत्तिता 'विनयो' गुर्वादिष्वभ्युत्थानादि प्रतिपत्तिः 'नयो' लोकलोकोत्तरा-विरुद्ध-वर्त्तित्वं 'दया' दुःस्थितादि दर्शनादार्द्रान्तःकरणत्वं 'दाक्ष्यं' धर्मक्रियास्वनालस्यं 'दाक्षिण्यं' सरलचित्तता, ततो द्वन्द्वः। एभिर्गुणैः 'पुण्याः' पवित्रा मनोज्ञा वा साधवो वन्दनाद्यर्हन्तीति वृत्तार्थः ॥ ३७ ॥

साम्प्रतं प्रकरणकारः प्रकरणं समाप्नुवन् इष्टदेवतास्तवच्छद्मनाऽवसानमङ्गलं सूचयन् चक्रबन्धेन स्वनामधेयमाविर्भावयिषुराह—

विभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनाशाद श्रुतोलङ्घने ॥ ३८ ॥

व्याख्या—जिनं वन्दे इति सम्बन्धः। 'विभ्राजिष्णुं' त्रिभुवनातिशायिचतुस्त्रिंशदतिशयत्वेन आत्यन्तं शोभमान 'अगर्वं' उच्छिन्नाहङ्कार 'अस्मरं' मथितमन्मथं

'श्रुतोल्लङ्घने' सिद्धान्तातिक्रमे अनाशादं, आशां—मनोरथं 'ददाति' पूरयति आशादः, न आशादोऽनाशादः तं, श्रुताज्ञातिक्रमकारिणः पुंसो नानुमन्तारमित्यर्थः। सत् ज्ञानद्युमणिं, सत् ज्ञानेन—केवलज्ञानेन लोकालोकावभासकत्वात्—भास्वन्तं 'जिनं' तीर्थकरं, तथा "सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा। जिणपायंगुट्ठपहे, न सोहए तं जहिं गालो ॥ १ ॥" इत्यादिवचनेन 'वरा' सर्वाङ्गसुभगा 'वपुः श्रीः' शरीरकान्तिः, सैव 'चन्द्रिका' जगतीजनप्रमोददायित्वात् कौमुदी, तया 'भेश्वरं' नक्षत्रनाथं, चन्द्रिकया चन्द्रवद्वपुःश्रिया त्रिजगदाह्लादकमित्यर्थः। 'वन्दे' स्तुवे 'वर्ण्ये' स्तुत्यं 'अनेकधा' बहुधा 'असुरनरैः' दानवमानवैः 'शक्रेण' मघोना, 'चः' समुच्चये, एनश्छिदं—कल्मषसर्वङ्कषं 'दम्भारिं' शाठ्यनिष्ठापकं 'विदुषां' विपश्चितां 'सदा' सर्वदा 'सुवचसा' मधुरगिरा 'अनेकान्तरङ्गप्रदं' किल जैनदर्शने त्रैलोक्यवर्त्तिसकलं वस्तुजातं सदसन्नित्यानित्यादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते, तथैव प्रमाणोपपन्नत्वात्, न तु परतीर्थिकवत्सदेवासदेव वा नित्यमेवानित्यमेव वेत्यादिरूपतयैकान्तात्मकं, तस्य विचारासहत्वात्। ततोऽनेकान्ते—ऽनेकान्तात्मकवादे रङ्ग—मनुरागं प्रदत्ते यः स तथा तं, अनेकान्तवादप्रीत्युत्पादकं, तर्कशर्करारसस्पन्दिन्या वाचा तथा भगवाननेकान्तवादं व्युत्पादयति, यथा विद्वांसः शेषदर्शनत्यागेन तत्रैव रज्यन्त इत्यर्थः। 'चक्रमिदं' चक्रबन्धः 'माघसमं' यादृश्या वर्णन्यासपरिपाट्या माघकाव्यस्थचक्रान्तः 'माघकाव्यमिदं—शिशुपालवध' इत्येवंरूपो नामबन्धः प्रादुर्भवति, इहापि तादृश्यैवेति माघसमतार्थः, अत्र च "जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे" इति नामबन्धः स्थापना चेयं—एतच्चैवं चक्राक्षरन्यासस्वरूपं व्यक्तमिति वृत्तार्थः ॥ ३८ ॥

एवं चानेन प्रकरणेन सप्रपञ्चं मिथ्यापथस्वरूपप्रकटिते प्रभुश्रीजिनवल्लभसूरयः किमित्येवं प्रकटवृत्त्या लिङ्गिनो भवद्भिर्दूषिता ? इति केनाप्युपालब्धास्तस्य च प्रतिवचनं तस्मै वक्ष्यमाणवृत्तद्वयेनोपन्यस्तं अतस्तदपि प्रकृतानुपातित्वादत्रैव प्रकरणान्ते निबद्धं तदिदानीं व्याख्यायत इत्याह—

जिनपतिमतदुर्गे कालतः साधुवेषैः ॥ ३९ ॥

व्याख्या—जिनपतिमतमेव—भगवच्छासनमेव मिथ्यात्वादि वैरिवाररक्षाक्षमत्वात्—बद्धमूलत्वेन प्रतिपक्षैरक्षय्यत्वात् उन्नतिमत्त्वेन दुरारोहत्वाच्च 'दुर्गं' प्राकारः तस्मिन् 'अभिभूते' उपद्रुते—विडम्बित इत्यर्थः। साधुवेषैः—लिङ्गिभिः 'भस्मको' भस्मराशिग्रहः, स एवार्हच्छासनरतानां नानाविधबाधाविधायित्वात् म्लेच्छ—स्तुरुष्काधिपः

तस्य सैन्याः तदनुवर्त्तिचेष्टितत्वात् सैनिकास्तैर्विपयिभिः–कामुकैः । द्वितीयपक्षे वशीकृतबाह्यदेशैः । अथ कथमेवंविधस्यापि जिनमतदुर्गस्य विपयिभिरपि लिङ्गिभिरभिभव ? इत्यत आह–'कालतो' दुष्षमासमयदोषात्, अभिभूयन्ते हि कालवशान्महातेजस्विनोऽपि, ततश्च 'स्ववशजडजनानां' मस्यत्त्वाद्यारोपणव्याजेनात्मायतीत्तीकृतमुग्धलोकानां 'स्वगच्छस्थितिः' एते वयं सम्प्रदायागता युष्माकं गुरवस्तस्मात् कदाचिदपि न मोक्तव्या इत्यादिका प्राक्प्रतिपादिता निजगच्छमुद्रा 'इयं' एषा 'अधुना' इदानीं 'तैः' साधुवेषैः 'अप्रथि' सर्वत्रैकमत्येन अतानि । 'स्वार्थसिद्ध्यै' कथमस्माकमेते भोग्या भविष्यतीति निजकार्यनिष्पत्तये, अत्रार्थेऽनुरूपमुपमानमाह–'शृङ्खलेव' निगड इव । एतदुक्तं भवति–यथा म्लेच्छसैन्याः कस्मिंश्चिदपि दुर्गे स्वभुजबलेन गृहीते द्रविणाद्यर्थं तदन्तर्वर्तिनागरिकलोकसंयमनाय शृङ्खला प्रसारयन्ति, तथैतेऽपि लिङ्गिनः स्वोपभोगार्थं मुग्धजननियमनाय गच्छस्थितिं प्रथयामसुरिति वृत्तार्थः ॥ ३९ ॥

ननु ते यदि गच्छस्थितिं सर्वत्र विस्तारयामासुरेतावताऽपि किं ? इत्यत आह—

सम्प्रत्य प्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक—॥ ४० ॥

व्याख्या—मोहराजकटके प्रौढिं जग्मुषि लोकैर्वयं कदर्थ्यामह इति सम्बन्धः । 'सम्प्रति' अधुना 'प्रोज्जृम्भिते' अभ्युदिते 'भस्मकम्लेच्छातुच्छबले' भस्मराशितुरुष्काधिपतिसारसैन्ये 'अप्रतिमे' तेजस्वितयाऽनन्यसाधारणे 'कुसङ्घ एव' प्राग्वर्णितनिर्गुणसाध्वादिसमुदाय एव 'वपुः' शरीरं स्वरूपं यस्य तत्तथा, तस्मिन् । भस्मकम्लेच्छस्य हि दुस्सङ्घ एव स्वसैन्यं, ततो यथा म्लेच्छोऽश्वादिसाधनेन परजनपदमभिभवति, एवं भस्मकोऽपि प्रबलः दुःसङ्घबलेन भगवच्छासनं मालिन्योत्पादनेन तिरस्कुरुते, तदा 'दुरन्तदशमाश्चर्ये' दुष्टासंयतपूजाख्यान्ताश्चर्ये, चः समुच्चये, 'विस्फूर्जति' प्रभविष्णौ, एवं च सति 'प्रौढिं' स्फातिं 'जग्मुषि' प्राप्नुषि 'मोह एव' मिथ्याज्ञानमेव, लिङ्गिप्रज्ञप्तसंसारमार्गस्यादिकारणत्वात् अतिदुर्जयत्वात् रागादिप्रभवत्वाच्च 'राजा' पार्थिवः तस्य 'कटके' अनीके आगुक्तस्य भस्मकादेः सर्वस्यापि मोहराजपरिच्छदभूतत्वेन तत्कटककल्पत्वात्, अयमर्थः–मोहो हि दुष्ट मौलराजकल्पः तस्य च दुःसङ्घलक्षणचतुरङ्गबलकलितो भस्मको म्लेच्छाख्यमहासामन्तकल्पः, दशमाश्चर्यं तु स्वत एवातिप्रबलत्वात् साहाय्यान्तरनिरपेक्षमेव द्वितीयमहासामन्तप्रख्यं, ततो यथा कश्चिन्महाराजाधिराजो म्लेच्छादिमहासामन्तैर्भूमण्डलं साधयति, तथाऽयमपि मोहराजो भस्मकादिभिर्जिनशासनमभिभवतीति, ततो 'लोकैः' कुसङ्घजनैः तदापरै–मोहराजशासन-

मनतिक्रामद्भिर्मूढत्वादविमृश्यत्वात् अविमृश्यकारिभिरित्यर्थः। 'एकीभूय' दुष्टत्वेनैकमत्यं विधाय, इत्थं सकलजनप्रतीतैराक्रोश–तर्जन–हीलादिभिः प्रकारैः राजवर्चसेन वयं 'कदर्थ्यामहे' पीडयामहे–उपहास्यामह इत्यर्थः। केन हेतुनेत्याह–'सदागमस्य' लिङ्गिप्रथित–मिथ्यापथोत्पथत्वप्रतिपादकस्य शुद्धसिद्धान्तस्य 'कथयाऽपि' धर्मदेशनाद्वारा विचारमात्रेणापि, यदि हि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण साधनदूषणोपन्यासे प्रकृतविषयपरैः सह वादमुपक्रमामहे तदा न विद्मस्ते किमपि कुर्वीरन् इत्यपि शब्दार्थः, तथा च वयं शुद्धसिद्धान्तविचारं भव्येभ्योऽनुजिघृक्षयोपदिशन्तो नाल्पीयां समप्युपालम्भमर्हामः। यदुक्तं–" नेत्रैर्निरीक्ष्य विषकंटकसर्पकीटान्, सम्यक् पथा व्रजत तान् परिहृत्य सर्वान् कुज्ञान–कुश्रुति–कुदृष्टि–कुमार्गदोषान्, सम्यग्विचारयत कोऽत्र परापवादः? ॥ १ ॥" इति वृत्तार्थः ॥ ४० ॥

[अथ ग्रन्थकृत्प्रशस्तिः]

श्रीमति खरतरगच्छे, श्रीजिनभद्राभिधा गणाधीशाः।
सिद्धान्तरुचिप्रौढा–नूचानाः सन्ति तच्छिष्याः ॥ १ ॥
श्रीमदभयसोमास्तू–पाध्यायास्तद्विनेयविख्याताः।
तच्छिष्यहर्षराजो–पाध्यायेन हि कृता वृत्तिः ॥ २ ॥
लब्धिवाग्गुरुभद्रो–दयसाहाय्याच्च सङ्घपट्टस्य।
श्रीमज्जिनपतिसूरीश्वर–कृतसद् बृहत् टीकातः ॥ ३ ॥ त्रिभिः कुलकम् ॥
यदत्र हर्षराजेन, लिखितं मतिमान्द्यतः।
विरुद्धं च तदुत्सूत्रं बुधैः शोध्यं सुबुद्धिभिः ॥ ४ ॥

॥ इति सङ्घपट्टकलघुवृत्तिः सम्पूर्णा ॥

[लेखक प्रशस्तिः]

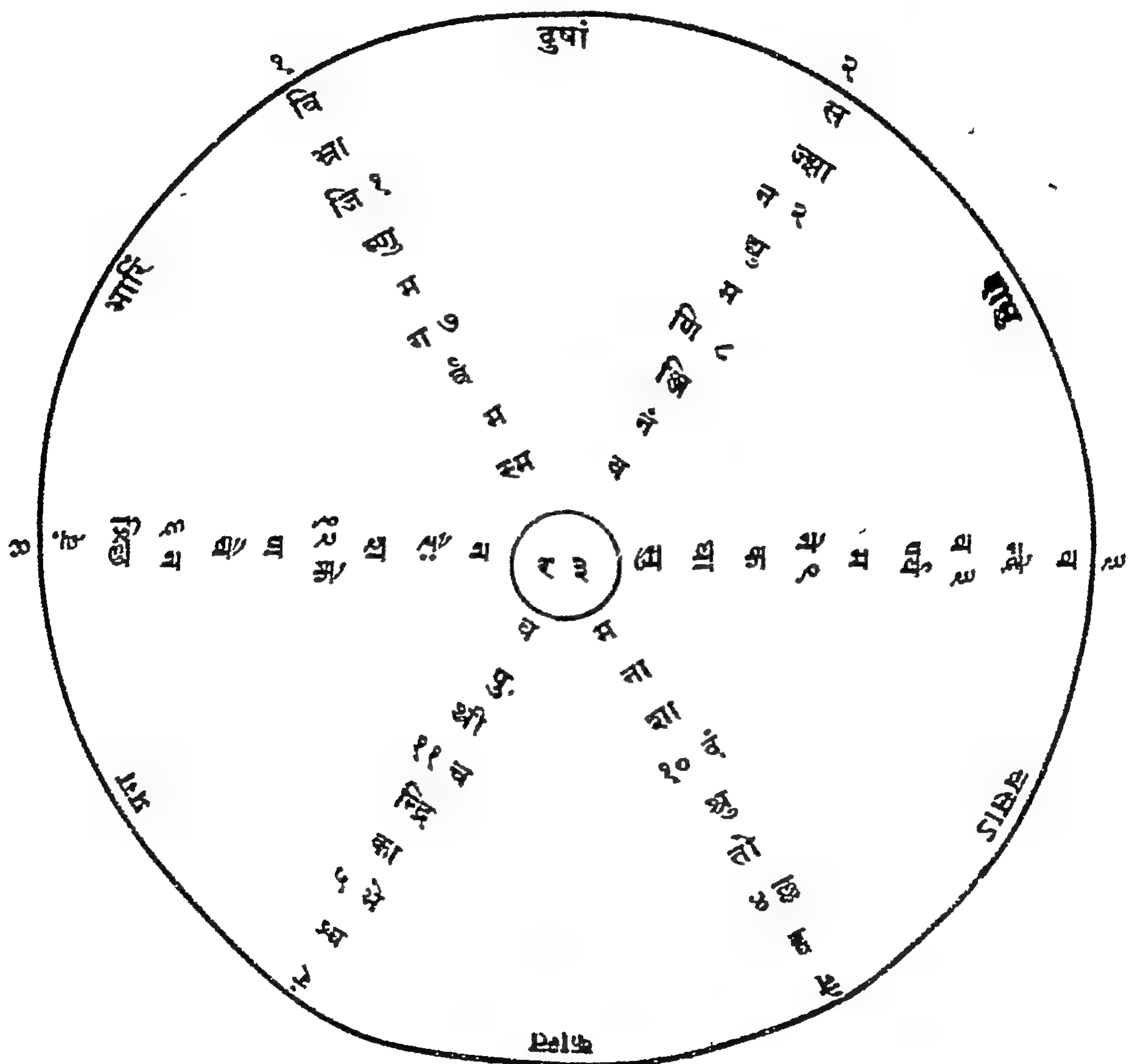
संवत् १६०८ वर्षे माहसुदि ५ दिने शनिवारे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनमाणिक्यसूरिविजयराज्ये श्रीविक्रमनगरे गणधर चोपडागोत्रे सा० देवराजस्तत्पुत्र सा० जगसिंहस्तत्पु० सा कम्मा भा० श्रा० कौतिकदेवाः पु०रत्न सा० रायपाल सुरताण संसारचंद प्रमुखपरिवारयुतेन सा० रायपालेन ज्ञानपञ्चमीतपस उद्यापने श्रीसङ्घपट्टकलघुवृत्तिप्रतिर्विहरापिता श्रीधनराजोपाध्यायानां वाच्यमानं चिरं नन्दतु ॥ शुभं कल्याणमस्तु। श्रीधनराजोपाध्यायमिश्रैः प्रसादीकृता प्रतिरियं वा० जयसुन्दरगणेः।

शुभं भवतु लेखक पाठकयोः। कल्याणमस्तु। श्रीः।

स चक्रबन्धोऽयम्—

"जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे"

इति नामबन्धः स्थापना । सं० प० श्लोक-३८ ॥



श्री संघपट्टक का हिन्दी भाषानुवाद ।



'वह्निज्वाला०'—कुपथ-कुधर्म के खण्डन करने में तत्पर, करुणारूपी अमृत के सागर पार्श्वप्रभुने अपनी माता तथा अन्य बहुत से लोगों के सामने कमठमुनि (तापस) की धूनी में जलती हुई लकडी के छिद्र में धूनी की ज्वाला से ज्वलितप्राय नाग को दिखलाकर कमठमुनि के तप को दुष्टतप उद्घोषित किया और प्रभुने तन्निमित्त अनेक उपसर्गों का भी सहन किया। कमठमुनि के तपको दुष्ट तप उद्घोषित करते हुए भगवानने मानो लोगों से कहा कि "प्राज्ञों को उचित है कि-वे कष्ट उठाकर भी लोगों को कुमार्ग पर जाने से रोकें" दुष्प्रवृत्ति से लोगों को, परावर्त्तन करने-हटाने में तत्पर ऐसे पार्श्वनाथनामक जिनदेव की हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

'कल्याणाभि०'—हे शिष्य! तुम्हारा मानसिक परिणाम शुभ है, तुम गुणग्राही हो, कुमार्ग के प्रत्यर्थी-शत्रु हो, विनयशील हो, सरल हो, यथोचित कार्य करने में सर्वदा प्रवृत्त रहते हो, उदार, जितेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिरता एवं धीरता से युक्त, सद्धर्म के अभिलाषी, विवेक एवं सद्बुद्धि से युक्त हो इसीलिये हम तुमको उपदेश देते हैं अर्थात् सङ्घ व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

'इह किल०' इति-इस दुष्षमा काल में प्राणिवर्ग कलिकालरूपी महासर्प के दाढ में पडे हुए हैं, प्राणियों में तत्त्व के प्रति प्रीति तथा नीतिमत्ता का बिलकुल अभाव हो गया है, अज्ञान एवं कुपथ की अहर्निश वृद्धि के कारण प्राणियों का सुगतिमार्ग अर्थात् देवगति आदिसे सम्बन्ध एकदम विच्छिन्न हो गया है। एसे समय इस जगत में भस्मग्रह और उसका मित्र असंयतियों की पूजारूप दशम आश्चर्य खूब उन्नति पा रहे हैं, मिथ्यात्वरूप अन्धकार दिन दोगुना रात चौगुना बढ़ रहा है। इस मिथ्यात्व के कारण जैनेन्द्र मार्ग विरलता अर्थात् क्षीणता को प्राप्त हो चूका है। एसे अवसर में रौद्र अध्यवसायवाले द्वेषी, मूर्ख, दुर्जन तथा दुर्बुद्धियों के संघ की परम्परा में अनुरक्त, विषयसेवी, साधुवेषधारी, आचारहीन चैत्यवासियोंने जिनोक्तमार्ग से विरुद्ध मार्ग को चारों और फैला रखा है ॥ ३ ॥ ४ ॥

'यत्रौद्देशिक०'—आधाकर्मिक भोजन १, जिनालय में वास २, (वसति)

उपाश्रय के प्रति मत्सरता ३, धन अर्थस्वीकार ४, गृह श्राद्धस्वीकार ५, तथा चैत्यमदन का स्वीकार ६, अप्रत्युपेक्षित आसन गद्दी पर बैठना ७, सावद्य आचरण में आदर रखना ८, श्रुतमार्ग का अपमान करना ९, और गुणिजनों के प्रति द्वेष रखना १०, ये दश द्वार-रूप जिस मार्ग में धर्म माना गया है। यदि इस प्रकार का धर्म कर्म-मल को दूर करनेवाला हो तो मेरुपर्वत भी समुद्र में तैरने लग जाय। अर्थात् जैसे मेरुपर्वत समुद्र नहीं तिर सकता, उसी प्रकार यह धर्म भी कदाचिदपि कर्महारक नहीं हो सकता ॥५॥

(१) औद्देशिक आहार विषयक प्रथम द्वार कहते हैं—

'षट्कायाः०'—इति। पृथिवी आदि षट्काय के जीवों को निर्दयतापूर्वक उपमर्दित करके मुनियों के निमित्त जो आहार बनाया गया है, जिस आहार का शास्त्र में वारंवार निषेध किया गया है, जो आहार निस्त्रिंशता-निर्दयता का सूचक है, जिस आहार को तीर्थङ्करआदिने गोमांसतुल्य कहा है, जिसको खाकर मुनि नरकगामी होता है। श्रमणसङ्घ आदि के निमित्त बनाये गये ऐसे आधाकर्मिक आहार को कौन दयालु मुनि ग्रहण करनेकी इच्छा करेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥ ६ ॥

(२) अब जिनगृहनिवास विषयक दूसरा द्वार कहते हैं—

'गायद्०' इति—गन्धर्व(गायक) जहां गीत गा रहे हैं, वेश्यायें जहां नांच रही हैं, जहां वंशी की ध्वनि मुखरित हो रही है, जहां मृदङ्ग ध्वनि गूंज रही है, जहां पुष्पमालाऐं लहलहा रही है, कस्तूरी की सुगन्ध से जहां देवभवन सुरभित हो रहा है, जहां पर जरीदार चंदोवा चमचम चमक रहा है, तथा खूब सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित श्रावक-श्राविकाओं के समुदाय का जहां आने-जाने का तांता (परम्परा) लगा हुआ है, जो कि मात्र भगवद्गुणगान भक्ति के लिये उपयुक्त हैं। उन चैत्यों-मन्दिरों में देवद्रव्य का उपभोग, ताम्बूल भक्षण, शयन, आसन आदि करने रूप आशातनाओं से डरते हुए जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ मुनि कभी भी निवास नहीं करते हैं ॥७॥

(३) परगृहवास विषयक तीसरा द्वार कहते हैं—

'साक्षा०' इति—भगवान् तीर्थङ्करोने तथा गणधरोंने जहां स्वयं निवास किया है, और दूसरे साधुओं को भी वहां पर निवास करने की आज्ञा दी है, जो श्रेष्ठ मुनियों के लिये निस्सङ्गता का प्रधान स्थान परगृह(उपाश्रय) है, उसका शय्यातर (वसतिदान द्वारा संसारसागर को पार करनेवाला श्रावक) और अनगार(अगार-घर

रहित) इन दोनों का अर्थ जाननेवाला कौन एसा विद्वान होगा जो द्वेष करेगा ? अर्थात् विद्वान् पुरुष कभी भी उसका द्वेष नहीं करेगा ॥ ८ ॥ फिर भी करते हैं—

' चित्रोत्सर्गा० ' इति—इस जिन प्रवचन में जो निशीथसूत्र नाम का छेदसूत्र है वह तो मानो मोक्षनगरी का एक दूत ही है। यह निशीथसूत्र अनेक प्रकार के उत्सर्ग और अपवादनय के प्रतिपादन से युक्त है। उस निशीथसूत्र में गृहस्थों के घर में उतरने के बहुत से भेद कहे गये हैं। उसमें पहले उत्सर्गरूप से कहा गया है फिर अपवाद से स्त्री, पशु, पण्डक आदि के संसर्ग से युक्त वसति में साधु को नहीं उतरना चाहिये, इस प्रकार से कहकर उसका अपवाद भी किया है कि—साधुलोग ऐसी वसती में भी यतना से रह-सकते हैं। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि निशीथसूत्र में स्त्री पशुपण्डक आदि से युक्त अथवा उससे रहित, इन दोनों प्रकार के गृहस्थ के घरों में साधुओं का उतरना नियमतः प्रतिपादित है। परन्तु जिनमन्दिर में उतरने के लिये कहीं भी नहीं कहा गया है ॥९॥

(४-५-६) अथ गृहस्थ और चैत्य, इनका स्वीकार विषयक चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ इन तीन द्वारों को कहते हैं—

' प्रव्रज्या० ' इति—तीर्थङ्करोंने धन स्वीकार करनेको प्रव्रज्याका विरोधी कहा है। फिर ' ये मेरे श्रावक हैं ' इस प्रकार से सर्वारम्भी श्रावकों पर ममत्व रखना तो अत्यन्त सावद्य है। फिर यदि ' यह जिनालय मेरा है ' इस प्रकार जिनालय के प्रति साधु, ममता रखे तो फिर उसमें अत्यन्त निन्दनीय मठपतित्व—मठधारीपना—आ जाता है। इस लिये मुक्ति के अभिलाषी साधुओं को चाहिये कि वे अर्थ श्रावक और जिनालय, इन सबों पर प्रव्रज्या को दूषित करनेवाली ममता कभी भी न करें ॥ १० ॥

(७) अप्रमार्जित आसन विषयक सातमा द्वार कहते हैं—

' भवति० ' इति—गद्दी पर बैठने से असंयम अवश्यम्भावी है, क्यों कि उसकी प्रतिलेखना नहीं हो सकती। तथा गद्दी पर बैठने से विभूषा—शोभा होती है और साधुओं के लिये विभूषा का शास्त्र में निषेध किया गया है। गद्दी पर बैठना यह एक राजचिह्न है अतः साधुओं के लिये त्याज्य है। गद्दी पर बैठने से लोग साधुओं का उपहास करते हैं कि—' अरे ! देखो ऐसे यह मुण्डित होकर भी गद्दी पर बैठता है। ' इस प्रकार लोगों में निन्दा भी होती है। और इसमें परिग्रह दोष तो स्पष्ट ही है। गद्दी पर बैठनेसे साधु की सुखभोगरूप तीव्र अभिलाषा भी प्रकट होती

है। इस लिये साधुओं को गद्दी पर कभी भी नहीं बैठना चाहिये। इसी प्रकार मयूरक सिंहासन–तकियेदार आसन–आदि पर भी नहीं बैठना चाहिये ॥ ११ ॥

(८) सावद्याचरित विषयक आठमा द्वार कहते हैं—

गृही० गड्डरिया प्रवाह में पडे हुए इन चैत्यवासियोंने इन आगे कही जानेवाली अयुक्त बातें कैसी फैला रखी हैं ? । वे इस प्रकार कहते हैं–श्रावक अपने अपने नियत किये हुए गच्छ के ही साधुओं को मानें। जिनालय में साधुओं का अधिकार हो। गृहस्थ लोग साधुओं को अशन पान खादिम स्वादिमरूप चतुर्विध आहार शुद्धि अशुद्धि का विचार किये विना ही दें तो कोई दोष नहीं है। तथा श्रावक लोग सुविहित साधुओं के समीप शीलादि व्रत न लें, इत्यादि ॥ १२ ॥

(९) श्रुतपथ अवज्ञा विषयक नौवाँ द्वार कहते हैं—

'निर्वाहा०' इति–ऐसा गुरु कि–जिस के शील और वंश का कुछ भी पता नहीं है, जो गुण से हीन है, जिसने सिर्फ अपना पेट भरने के लिये ही प्रव्रज्या ली है, वह गुरु उदरम्भरी–पेटू, गुणहीन, अज्ञातशील वंशवाले लोगों को स्वार्थ के कारण मूंढते हैं, उन मुण्डितों की प्रसिद्ध गुण वंशवाले श्रावक भी गच्छरूपी महाग्रह से गृहीत होकर देवता से भी बढकर उनकी (चैत्यवासियो की) पूजा करते हैं, यह एक मोहनीय कर्मोदय का प्रभाव है ॥ १३ ॥ फिर भी—

'दुष्प्रापा०' इति–गुरुकर्मी (भारेकर्मी) लोगों को प्रथम तो सद्धर्मबुद्धि होना ही कठिन है। यदि कथञ्चित् सद्धर्मबुद्धि हुई भी तो शुभ गुरु का मिलना दुर्लभ है। यदि पूर्वपुण्य के प्रभाव से ऐसे गुरु भी मिल गये तो भी ये श्रावकलोग गच्छ-स्थिति के वशीभूत हो अपनी आत्मा का हित नहीं कर सकते। अरे ! जब ऐसी स्थिति है तब हम अपनी मानसिक वेदना किस के आगे प्रगट करें ? किस की शरण में जायँ ? किस की आराधना करें ? अरे ! कुछ भी नहीं सूझता कि क्या करें ? क्या न करें ? ॥ १४ ॥ फिर भी—

'क्षुत्क्षामः' इति–भूख के मारे जिसका जी जा रहा था ऐसा कोई दरिद्र के बालकने वैराग्य के न रहते हुए भी किसी जिनालय में प्रव्रज्या लेली। फिर कालक्रम से उसने किसी पुरुष को अपने पक्ष में छल–प्रपञ्च के द्वारा कर लिया। फिर वह आचार्य बन बैठा। यह अत्यन्त आश्चर्य है कि–ऐसे साधु को आचार्यपद्वी मिल

गई। जब आचार्यपद प्राप्त कर लिया तब वह गुणहीन साधु जिनालय को अपना घर समझता है। अपने को इन्द्र मानता है। विद्वानों को मूर्ख जानता है और संसार को तुच्छ समझता है। चैत्यवासियों की यह बात सर्वविदित है ॥ १५ ॥ फिर भी—

'यैर्जातो' इति–अधमों में भी अधम, मुनिवेषधारी ठग, इन श्रावकों को नाथे हुए बैल के समान इधर–उधर जहाँ चाहें वहाँ नचाते हैं। ये श्रावक न उनके पुत्र हैं, न उन से पालित हैं, न खरीदे हुए हैं, न उनके ऋणी हैं, न पहले कभी भेंट हुई थी, न ये उनके मित्र हैं, न इन ठगोंने पहले कभी रुपये–पैसों से उन को सन्तुष्ट किया है। अरे! तो भी देखो यह क्या विधिवैचित्र्य है जो ये श्रावक लोग इन ठगों के अधीन हो गये। अहो! इस अधःपतन का प्रतीकार कैसे हो? इस अनर्थ का प्रतीकार नहीं हो रहा है। इससे यही ज्ञात होता है कि इस समय संसार में कोई शासक नहीं रहा, कि जिसके आगे जाकर पुकार की जाय ॥ १६ ॥ फिरभी—

'किं०' इति—अरे! क्या इन मूर्ख लोगों को दिग्भ्रम(बेसमझी) हो गया है? क्या ये अन्धे और बहेरे हो गये हैं? क्या इन लोगों को योग(मन्त्रादि प्रयोग) और चूर्ण(शिरपर डालने की भुरकी) द्वारा वश में कर लिया है?, क्या इनका भाग्य खराब हो गया है? अथवा धूर्तोंने इन्हें ठगलिया है क्या? या ये लोग ग्रह गृहीत(पागल) तो नहीं हो गये हैं? जो कि प्रचुर दोषों को देखते हुए भी वे मूर्ख लोग जिनागम के शिरपर पैर रखकर कुमार्ग पर पड़े हुए हैं, उस परसे हटने का नाम ही नहीं लेते। अरे! इतना ही नहीं जो लोग कुपथ को दूर करने का प्रयत्न करते है तो उनसे ये मूर्ख लोग द्वेष भी करते हैं, अहो! यह कैसा भयङ्कर पतन है? ॥ १७ ॥ फिरभी—

'इष्टावाप्ति०'—अविधिपूर्वक अर्थात् रात्रि में मूर्ख लोकों द्वारा विहित तीर्थङ्करस्नात्र, पापरूपी पङ्क में अवश्यमेव डुबाता है। क्योंकि अब रात्रि में तीर्थङ्करस्नात्र किया जाता है उस समय इकट्ठे हुए जनसमुदाय अर्थात् स्त्री पुरुषों के झुण्ड में बहुतसी एसी स्त्रियाँ आती हैं जो विटों की अर्थात् वेश्यापतियों की, नटों की अर्थात् नाटक करनेवालों की, भटों की अर्थात् मुस्तण्ड गुण्डों की अर्थात् दासों की प्रिय उपनायिकायें होतीं हैं, इस लिये ये विट नट आदि भी रात्रि में तीर्थङ्करस्नात्र में एकत्रित होते हैं। वे सभी नर–नारियां हृदय में संगम की अभिलाषा लिये हुए रहती हैं। तथा वे लोग–राग, द्वेष, मत्सर–दूसरे के गुणों के प्रति असहिष्णुता, तथा ईर्ष्या अर्थात् अपनी

प्रियतमा को दूसरे पुरुष से बातें करते देखकर क्रोध करना, इन सबों से भरे हुए रहते हैं। रात्रि में किये गये तीर्थङ्करस्नात्र में तो ऐसे स्त्री-पुरुष एकत्रित होते हैं जिससे जिनालय में असमञ्जस प्रवृत्ति होती है इस लिए रात्रि में तीर्थङ्कर स्नात्र सर्वथा वर्जनीय है ॥ १८ ॥ फिर भी—

'जिनमत०' इति–जिनोक्त मत से विरुद्ध प्रकार से किया गया अर्थात् अविधिपूर्वक किया गया स्नात्र ही केवल अहित के लिये होता है, इतनाही मत समझो किन्तु जिनमत विरुद्ध विधि से किये गये तप–अनशन आदि, चारित्र–देशविरति और सर्वविरति, दान–अभयदान आदि, तथा विनय वैयावृत्त्य आदि भी मुक्तिरूप फल के दायक नहीं होते हैं। क्यों कि जिनाज्ञा भी यदि अविधिपूर्वक की जाती है तो वह अशुभ फल देनेवाली होती है, और यदि विधिपूर्वक की जाती है तो शुभ फल देनेवाली होती है। फिर इन चैत्यवासियोंने जो अविधि क्रिया का ढोंग फैला रखा है उमसे क्या अनन्तसंसार की प्राप्ति नहीं होगी ? होगी ही ॥ १९ ॥ फिर भी—

'जिनगृह०' इति—विधिपूर्वक–अर्थात् शास्त्रोक्त प्रकारसे किये गये जिन-भवन, जिनबिम्ब–भगवान की प्रतिमा, जिनपूजन, जिनयात्रा अर्थात् अष्टाह्निकादि महोत्सव, जिनप्रतिष्ठा, तथा दान–अभयदानादि, तप–अनशन आदि बारह प्रकार का तप, व्रत आदि अर्थात् स्थूल प्राणातिपातविरमण और अभिग्रह आदि, गुरुभक्ति–धर्माचार्य की भक्ति और श्रुतपठन अर्थात् सिद्धान्त का स्वाध्याय तथा सिद्धान्त के अर्थों का श्रवण आदि, ये सब आदरपूर्वक किये जाने पर भी यदि इन में कुमत, कुगुरु, कदाग्रह–कुत्सित आग्रह, कुबोध और कुदेशना का अंश मात्र भी मिल जाय तो ये जिनभवन आदि सब अनन्त संसार के कारण हो जाते हैं। जैसे उत्तम से उत्तम भोजन क्यों न हो ? यदि उसमें थोडासा भी विष मिल गया हो तो वह अनिष्टकारी हो ही जाता है ॥ २० ॥

'आक्रष्टुं' इति—जैसे मच्छीमार बडिश–बन्सी (मच्छी पकडने का कांटा) में मांस के टुकडे को लगाकर मछलियों को आकृष्ट करते हैं उसी प्रकार ये धूर्त चैत्य-वासी लोग भगवान की प्रतिमा दिखलाकर श्रद्धालु श्रावक लोगों को आकृष्ट करते हैं। भगवान् के नाम पर अपनी इष्ट सिद्धि के लिये ये सुन्दर २ अन्तर्गृह और मठ, उन श्रावकों से बनवाते हैं। लक्ष्य तो केवल उनका अपने स्वार्थ पर है, परन्तु भगवान के नाम पर श्रावकों को ठगकर उनसे ये सब बनवाते हैं। तथा–यात्रा स्नात्र अर्थात्

पूर्वजों के उद्देश्य से जिनालय में यात्रा और जिनस्नात्र आदिक उपायों से और तमसितक-अर्थात् अमुक उपद्रव की निवृत्ति के लिये जिनभगवान के उद्देश्य से 'इतना द्रव्य देता हूँ' इस प्रकार के नियम कराने के, रात्रिजागरण और शान्तिक पौष्टिक आदि कर्म के छल (बाहना) से नाम मात्र के जैन इन धूर्त्त चैत्यवासी लोगों के द्वारा ये श्रद्धालु भोलेभाले श्रावक भूतलगे के समान ठगे जा रहे हैं, यह अत्यन्त खेद की बात है। इस विषयमें समझने की बात इतनी है कि-ये सभी इन लोगों के द्वारा अविधिपूर्वक कराये जाते हैं इस लिये इन सब का प्रतिषेध किया गया है, विधिपूर्वक तो इन की कर्त्तव्यता इष्ट ही है। इन की कर्त्तव्यता का स्थापन पूर्वोक्त सातवें और वीसवें काव्य में किया गया है ॥ २१ ॥

'सर्वत्रा०'-इति—जिनके आस्रव अर्थात् पापागमन के द्वार खुले हुए हैं, जिनकी श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियाँ अपने विषयों में आसक्त हैं, गौरव अर्थात् ऋद्धि रस शाता, इन तीन गौरव से चण्ड-रौद्र मनोदण्डरूपी तूफानी घोडा जिनका उछल रहा है, कषायरूपी सर्प जिनके बढ़ रहे हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं-जो अन्त्य-अन्तिम अर्थात् दशवां आश्चर्य-असंयतियों की पूजारूप जो कि सब-दशों आश्चर्यों का राजा है उसके आश्रित होकर उद्धत बुद्धिवाले ये हीनाचारी लोग श्रेष्ठ-सदाचारी मुनियों के मस्तक पर खड़े हो कर खुश हो रहे हैं, एवं समाज में प्रतिष्ठा भी पा रहे हैं, अहहह !!! यह कैसा अनर्थ हो रहा है ? ॥ २२ ॥

'सर्वारम्भ०'—सभी प्रकार के सावद्य व्यापार-धनधान्यादि संग्रहमें-तत्पर गृहस्थ लोग भी यदि पर्व आदि दिनों में एकाशन विगयरहित भोजन आदि का प्रत्याख्यान-नियम लेकर उनके पालन में कथञ्चित् भूल कर बैठते हैं तो वे भी अत्यन्त अनुताप-पछतावा-करते हैं कि-'मुझ कर्मभागी का प्रत्याख्यान भग्न हो गया' परन्तु ये हीनाचारी लोग छ बार-तीन बार सन्ध्या के प्रतिक्रमण में और तीन बार प्रातःकाल के प्रतिक्रमण में, इस प्रकार छ बार-'त्रिविध-मन वचन काया के तीन योगों से, त्रिधा-करण १, कारण २, अनुमोदन ३, इन तीन कारणों से प्रत्याख्यान करता हूँ' इस प्रकार प्रतिदिन दोनों समय मुंह से बोलकर भी स्वयमेव उसका खण्डन करते हैं। ऐसे हीनाचारी लोग क्या कभी तपस्वी, ज्ञानी या व्रती हो सकते हैं ? कभी भी नहीं। इनमें तप ज्ञान और व्रत का होना तो शशशृङ्ग जैसा ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

'देवार्थ०' इति—देवोद्देश्यक धन-देवद्रव्य-से अपनी रुचि के अनुकूल, एवं सभी ऋतुओं में सुखप्रद ऐसे मठ बनवाकर उस मठ में सर्वदा रहनेवाले ये हीनाचारी लोग खूब स्वच्छ कोमल रुई से भरे हुए सुन्दर बिछौने पर सोते हैं। इसी प्रकार के गद्दी आदि आसनों एवं मसूरियों-तकियेदार आसनों पर बैठते हैं। ये सर्वदा आरम्भ, परिग्रह और श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियों के विषयों से युक्त, तथा ईर्ष्या और द्रव्यादि की आकाङ्क्षा से सर्वदा आन्दोलित हृदयवाले होकर रहा करते हैं। ऐसे श्वेत वस्त्रधारी, साधु के वेष में छिपे हुए लम्पट ये हीनाचारी लोग महाव्रतों को भी लाञ्छित कर दिये हैं। इनके द्वारा साधुमार्ग कलङ्कित हो चुका है ॥ २४ ॥

'इत्या०' इति—परतीर्थिक लोग इन हीनाचारियों की सामाचारी को देखकर 'ये लोग साधुवेषमें छिपे हुए लम्पट हैं' इस प्रकार सभी जैनमुनियों के विषय में वे उपहास करते हैं। और इन हीनाचारियों की लीला सुनकर श्रुतमार्ग के अभिमुख हुए लोग भी इस से विमुख हो जाते हैं। इन हीनाचारियों की मिथ्याप्ररूपणा के कारण सम्यग्दृष्टि लोग भी सन्देहयुक्त होने लगते हैं। इस लिये यह निश्चित हुआ कि-ये हीनाचारी चैत्यवासी लोग जिनप्ररूपित सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

'सर्वैं०' इति—चैत्यवासियों द्वारा विहित कुमार्ग को सेवन करनेवाले, इसी कुमार्ग को जिनमार्ग कहनेवाले, तथा अपनी दुरात्मता से जिनमार्ग का उच्छेदन करनेवाले लोगों के मन को, संसार के समस्त सद्योघाती अत्युत्कट कालकूट विषों के समूहने, संसार के समस्त पापोंने, सभी विषैले सर्पोंने और समस्त कष्ट, आधि-मानसिकव्यथा, व्याधि-रोग तथा दुष्ट ग्रहोने निश्चय ही क्रूर बना डाला है ॥ २६ ॥ इस कारण से-यहां कारण कहते हैं—

'दुर्भेद०' इति—इन हीनाचारी चैत्यवासियों के बुद्धिरूपी नेत्र जो कभी भी नहीं दूर होसकते ऐसे कदाग्रहरूपी अत्यन्त गाढ अन्धकार-पुञ्ज से आच्छादित हैं। ये चैत्यवासी लोग सिद्धान्त के ग हैं। निरन्तर महामोहनीय कर्म के उपार्जन करते रहने के कारण ये महाअभिमानी हैं। ये स्वयं तो नष्ट हो ही चूके हैं और दूसरों को भी विनाश करनेमें सर्वदा उद्यत हैं। ऐसे जो ये मिथ्याचारवाले चैत्यवासी लोग हैं इन के वचन पर कोई विद्वान् मनुष्य कैसे ध्यान देगा? अर्थात् इन के वचनों को कैसे मानेगा? विद्वान् मनुष्य ऐसे लोगों के वचन को सुन ही नहीं सकते इस लिये हे शिष्य! तुम भी इन के वचनों को कभी नहीं सुनना ॥ २७ ॥ क्यों कि—

'यत्किञ्चि०' इति—जो एकदम असत्य है, जैसे कि श्रेणिक राजा का रजोहरण को वन्दन करना आदि, तथा जो अत्यन्त अनुचित है, जैसे पिता आदि के उद्देश्य से यात्रा आदि करना, अथवा जिनालयमें लकुटक्रीडा (रासलीला) करना आदि, और जो लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों से बाह्य है, जैसे-सूतकवाले घर से भिक्षा लेना, रजस्वलाका जिनेन्द्रपूजन, हीनजातियों को परमेष्ठि मन्त्र पढ़ाना, उन को दीक्षा देना और उनसे जिनेन्द्र की प्रतिमा कराना, तथा जो भव्य प्राणियों के लिये संसार का कारण है, जैसे-जिनमन्दिरमें जलक्रीडा आदि, एवं जो शास्त्राज्ञासे विरुद्ध है, जैसे आधाकर्मिक भोजन आदि, अथवा अधिक श्रावण हो जाय तो अस्सी वें दिन पर्युषणपर्व करना आदि, इन सबोंको ये मूर्ख कुबुद्धि चैत्यवासी लोग धर्म कहते हैं और ये मूर्ख लोग इनको सीपमें चांदी के समान भ्रमसे जिनमतानुसार समझकर स्वयं इनका स्वीकार भी करते हैं। अरे! देखो यह दुरन्त-परिणाममें अहितकर इस असंयतपूजारूप दशम आश्चर्य की कैसी करतूत है? ॥ २८ ॥

'कष्टं' इति—यह अत्यन्त खेद की बात है कि-जन्मसे ही अन्धा और वैदेशिक (वहां का नहीं रहनेवाला) होनेसे मार्ग को अच्छी तरह नहीं जाननेवाला मनुष्य अपनी गर्दन उठाकर दिशा भूले हुए अन्धों को महाभयङ्कर अरण्यमें उनके गन्तव्य नगर का मार्ग दिखला रहा है (१)। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि-जिनकी ऑखें अच्छी हैं, जो सुन्दर एवं विघ्न रहित मार्ग को जानते हैं उनको भी वह वैदेशिक जन्मान्ध मनुष्य मार्ग दिखलाने का साहस करता है (२)। तीसरी खेद की बात सबसे अधिक यह है कि-अब वे मार्गज्ञ नेत्रवान् मनुष्य उस वैदेशिक जन्मान्ध की बात नहीं मानते हैं तो वह उनकी इस प्रकार हँसी करता है जैसे किसी मूर्ख की हँसी की जाती है ॥ २९ ॥

'सैषा' इति—जिसमें समय-समय अर्थात् प्रतिसमय भव्य भावों का ह्रास हो रहा है एसा हुण्ड संस्थानवाला अवसर्पिणी काल इस समय विद्यमान है (१)। दो हजार वर्ष तक एक राशि पर टिकनेवाला भस्मराशि नामक तीसवाँ क्रूर ग्रह का अधिकार है (२)। और तीसरा असंयति पूजारूप यह प्रत्यक्ष दशवॉं आश्चर्य खूब वेगसे अपना प्रभाव जमा रहा है (३)। ये तीन और चौथा दुष्षमाकाल (४)। ये चारों जिनसिद्धान्त को क्षत-विक्षत करने के लिये पर्याप्त बद्धपरिकर हैं। ये चारों शत्रु इस समय प्रतिपल-निरन्तर खूब परिपुष्ट हो रहे हैं, ऐसे समय में सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध जैन मार्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। जब एक शत्रु के रहने पर भी साधुबुद्धि नहीं

होती है तो परिपुष्ट बराबरी के चार शत्रुओं की विद्यमानता में जैनमार्ग की वृद्धि कैसे होसकती है ? ॥ ३० ॥

(१०) अब गुणिद्वेषधी नामका दशवां द्वार कहते हैं—

' सम्यग्० ' इति—जो सम्यग्मार्ग अर्थात् विशुद्ध मार्ग के पोषक हैं, स्वरूप ही जिनका प्रशम भाव को प्रकट करता है, जिनके नेत्रों में षट्काय जीवों के प्रति करुणा का भाव उमड रहा है, जो विशुद्ध चारित्र के आराधक हैं, जिन्होंने अहङ्कार को मार भगाया है, सूखे हुए घासों के ढेर को जितनी सरलतासे जलाकर राख कर दी जाती है उसी प्रकार जिन्होंने कामको जलाकर राख कर डाला है, जो सर्वदा सिद्धान्तरूपी राजमार्ग पर चलते हैं, उन्मार्ग पर कभी नहीं, तथा जो उपशम भावसे युक्त हैं, एवं विवेकी सज्जन लोग जिनका सर्वदा आदर-सम्मान किया करते हैं ऐसे विद्वान् सत्साधुओं से भी दोषों के भण्डार तीक्ष्ण स्वभाववाले (अत्यन्त क्रोधी) महाशठ ये चैत्यवासी लोग द्वेष किया करते हैं ॥ ३१ ॥

अब उनके मिथ्यात्व का वर्णन करते हैं—

' देवीय० ' इति—मिथ्यात्वरूप ग्रहसे ग्रहिल (उन्मत्त) मनुष्य इस कालमें दोषों के भण्डार को देव मानते हैं, जिन्होंने बडे २ दोषों को नष्ट कर डाला है अर्थात् वीतराग देव हैं उनको देवरूपमें स्वीकार नहीं करते हैं। महामूर्खराजों को सर्वज्ञ मानते हैं और तत्त्वज्ञों को असर्वज्ञ मानते हैं। जैनमार्ग को उन्मार्ग कहते हैं और कुमार्ग को सन्मार्ग कहते हैं। तथा दुर्गुणों के शिरोमणि होते हुए भी अपने को गुणवान् कहते हैं यह सब कितने आश्चर्य की बात है ॥ ३२ ॥

' सङ्घ० ' इति—इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिए बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जालमें जो फसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ' हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जाओ ' ऐसी राजाज्ञा(हकूमत)रूप दृढ़ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जो जरा भी हिल-डुल नहीं सकते हैं। मुक्ति के लिये जो दान शील तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसङ्ग की परम्परामें पड़े हुए हैं। ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुण्ड हैं, उनका हीनाचारियों के कुसङ्गरूपी व्याघ्र से छुटकारा कहां ? अर्थात् जैसे हरिणसमूह जब व्याघ्रक्रम-व्याघ्रपरम्परामें आजाता है। तब उसका छुटकारा असम्भव हो जाता है। उसी प्रकार इन हीनाचारियों के सङ्गरूप

व्याघ्रके क्रम (फन्दे) में पडे हुए भव्यप्राणीरूप हरिणोंका छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

'इत्थं' इति—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो मैंने मिथ्या पथ के विषयमें बिलकुल सत्य बात कही है, इसे कोई ऐसा न समझे कि–'इन्होंने परदोषोद्धारनरूप अनुचित कार्य किया है।' अथवा–'इन रागद्वेषात्मक वाक्य से क्या लाभ ?' इस प्रकार मेरे ऊपर कोई सज्जन क्रोध भी न करें ! क्योंकि मैंने–इन हीनाचारी चैत्यवासियों द्वारा प्रकल्पित जैनमार्ग के भ्रमसे कुमार्गमें पडे हुए लोगोंको देखकर उनकी भ्रान्ति को दूर करने के लिये हे अर्थात् इन 'बिचारों का क्या होगा ?' इस उद्देश्यसे ही करुण भावसे आक्रान्त हो यह सब कहा है, और इसकी ग्रन्थरूपमें रचना भी की है। इसमें राग, द्वेष अथवा पैशुन्य कारण नहीं है ॥ ३४ ॥

इसमें कारण कहते हैं—

'प्रोद्भूते०' इति—जो कोई सज्जन करुणा के वश हो लोगोंमें कहते हुए कुबोध को दूर हटाने की इच्छा से हीनाचारी इन चैत्यवासियों द्वारा प्ररूपित दुष्ट मार्ग के–जो यह मार्ग अनन्त काल से उद्भुत हुआ है अर्थात् जो पहले अनन्त कालमें कभी नहीं था, तथा यह पाप का स्थान है, नाममात्र के वेषसे जो जिनमार्गकी भ्रान्ति को उत्पन्न करता है, वस्तुतः यह जिनमार्ग का घातक है, ऐसा जो यह दुष्ट मार्ग है उसके–दोषों की संख्याको कोई कहना कहे तो मानो वह समुद्रके जलको मापना चाहता है, अथवा पग से समस्त आकाश को लाँघना चाहता है, अर्थात् जैसे समुद्र के जल का मापना, पग से आकाशको लाँघना कठिन है इसी प्रकार इस मार्ग के दोषों का कहना भी कठिन है अर्थात् इस मार्गमें इतने असंख्य दोष हैं कि जिनकी इयत्ता (इतने दोष हैं ऐसी संख्या) हो नहीं सकती ॥ ३५ ॥

अब सत्साधुओं का वर्णन करते हैं—

'न सावद्या०' इति—जो सावद्य आम्नायवाले नहीं हैं, अर्थात् आधाकर्मिक आहारादि का ग्रहण करना जिनकी परम्परामें नहीं हैं, अर्थात् जो चैत्यवासी नहीं हैं, तथा जो बकुश और कुशीलों की क्रियासे रहित हैं अर्थात् बकुश और कुशीलों की क्रिया का आचरण नहीं करनेवाले हैं। मद ममता और आजीविका के भयसे जो रहित हैं। संक्लेश अर्थात् रौद्र अध्यवसाय जिन्हें नहीं होता है, जो कदाग्रही अर्थात हठी नहीं हैं। कपटी अर्थात् मायावी भी नहीं हैं। तथा जो सूत्रो–सिद्धान्तों में रुचि

रखनेवाले हैं एसे मुनि लोग तो आज भी इस जगतमें सत्साधु कहलायेंगे ही अर्थात् एसे मुनि को विवेकी जन सत्साधु कहेंगे ही ॥ प्रसङ्ग से यहां बकुश आदिकी व्याख्या की जाती है—

पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ होते हैं-बकुश १, कुशील २, पुलाक ३, निर्गन्थ ४, और स्नातक ५। इनमें बकुश दो प्रकार के होते हैं (१) उपकरणबकुश और (२) देहबकुश। उपकरणबकुश वे कहलाते है जो वर्षमें विना आवश्यकता के भी कभी कभी वस्त्रादिको धोते हैं, श्लक्ष्णचिकने रेशमी वस्त्रों को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं एवं कभी पहिनते भी हैं, पात्र दण्डा आदि को घी तैल माक्खन आदिसे चमकदार बनाते हैं, अधिक उपकरणो की भी याचना करते हैं (१)। देह-बकुश वे होते हैं जो विना कारण ही हाथ पैर नख आदि को विभूषित-सुशोभित करते रहते हैं (२), दोनों प्रकारके ये बकुश शिष्यादि परिवार आदि विभूतिको तथा तप और पाण्डित्य आदिसे उत्पन्न हुए यशको चाहते हैं और आनन्द मनाते हैं, तथा छेदयोग्य बहुत अतिचारों से शबलित-कर्बुरित अर्थात् मलिन होते हुए भी कर्म क्षयके लिए उद्यत रहते हैं, इत्यादि लक्षणवाले होते हैं ॥ १ ॥

कुशील भी दो प्रकार के होते हैं—आसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का किञ्चिन्मात्र आराधन करते है वे आसेवनाकुशील हैं। और जो क्रोधादिक भावों के वश होकर ज्ञानादि गुणों की विराधना करते हैं और मूलोत्तर गुणों के विघायक होते हैं वे कषायकुशील हैं ॥ २ ॥ इन पांचो का विस्तृत स्वरूप श्रीभगवतीसूत्र आदि से जान लेवें।

यहां शङ्का होती है कि जब ये शिथिल क्रियावाले हैं, केशों का लोचन करके कैंची से केश काटते हैं, सुन्दर-सुन्दर उपकरण रखते हैं और मूल गुण उत्तर गुण के विराधक हैं तो फिर ये 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कैसे कहे जाते हैं? इनका स्वरूप किस प्रकारसे है?, इसका समाधान यह है कि-इनकी पूर्वोक्त क्रियाएँ प्रवाह रूपसे (हमेशां-सर्वदा) नहीं हैं-कभी कभी विशेष कारण को लेकर धावनादि क्रिया करते हैं, और मूलोत्तर गुणों की विराधना मानसिक विराधनाको लेकर है अर्थात् मनसे कभी विराधना कर बैठते हैं, यह यहां सारांश है, किन्तु इनके सदा इन क्रियाओं की कर्त्तव्यता नहीं है, इस लिये इनको 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कहा है ॥ ३६ ॥

अब सत्साधुओं का वर्णन करते हैं—

'संविग्ना०' इति—जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, सर्वदा लोगों को धर्मोपदेश देते रहते हैं, आगम के रहस्य को जानते हैं, द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखकर क्रिया करते हैं, शुद्ध मार्ग–अर्थात् जिनमार्ग को प्रकट करने में सर्वदा सावधान रहते हैं, तथा जिन्होंने मिथ्याप्रवादों को दूर करदिये हैं, एवं जो नियम–अभिग्रह, उपशम, दम–इन्द्रियविजय, औचित्य–योग्यता, गाम्भीर्य, धैर्य, स्थैर्य, औदार्य, आर्यचर्या–सत्पुरुषोचित प्रवृत्ति, विनय–अभ्युत्थानादि, न्याय, दया, धर्मक्रिया, इन में आलस्याभाव–उद्यतपना और सरलता आदि गुणों से पवित्र हैं, एसे जो जिनशासन के सत्साधु हैं वे तो सर्वदा वन्दनीय हैं ॥ ३७ ॥

अब ग्रंथकार जिन भगवान को वन्दन करते हुए चक्रस्थापनासे स्वनामगर्भित काव्य कहते हैं—

'विभ्राजिष्णु०' इति—अपने अतिशयों से शोभायमान, अहङ्कार एवं कामसे सर्वदा रहित, सिद्धान्त की आज्ञा के उल्लङ्घन का निषेध करनेवाले, केवलज्ञानद्वारा लोकालोक के प्रकाशक होने से सूर्यसमान, श्रेष्ठ शरीर की कान्तिरूप चन्द्रिका के द्वारा चन्द्रमा के समान शीतल कान्तिवाले, असुर नर और इन्द्र से प्रशंसित, पापको नष्ट करनेवाले, दम्भ–(कपट–माया) के लिये शत्रुसमान, विद्वानों को अपनी सुन्दर वाणीद्वारा स्याद्वाद के आनन्दसे आनन्दित करनेवाले, ऐसे जो जिन भगवान हैं उनको मैं वन्दन करता हूँ, यह काव्य 'चक्रबन्ध' काव्य है। ग्रन्थकारने इसमें "जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे" (जिनवल्लभगणिने इस को बनाया है) इस वाक्य को अपनी काव्यरचना चातुरी के प्रभावसे काव्यान्तर्गर्भित कर दिया है ॥ ३८ ॥

'जिनपति०'—इति–विषयलोलुप, साधुवेषधारी और भस्मग्रहरूप, म्लेच्छराज के सैन्यसमान जो ये चैत्यवासी लोग है, इन चैत्यवासियों से इस पञ्चम काल (आरा) के कारण जिनेन्द्र का मतरूप दुर्ग(किल्ला) आक्रान्त हो गया है अर्थात् भस्मक ग्रह के सैन्यरूप इन चैत्यवासियोंने जिनेन्द्र मतरूप दुर्ग पर आक्रमण कर लिया है, इसी लिये इस समय ये लोग अपने वशवर्ती श्रावकों के लिये हमको छोडकर "अन्यत्र कहीं नहीं जाना" इस प्रकारकी श्रृङ्खला समान अपने गच्छ की मर्यादा को स्वार्थसिद्धि अर्थात् अपना पेट भरनेके लिये विस्तारित किये हुए है ॥ ३९ ॥

'सम्प्रत्य०'—इति–इस समय–इस पञ्चम आरा में हीनाचारी चैत्यवासियों के कुसङ्ग का शरीर अप्रतिम अर्थात् अनुपम बलशाली हो रहा है, भस्मग्रहरूप म्लेच्छ

राज के सैन्य दिनानुदिन बढते ही जा रहे है। दुष्ट असंयतियों की पूजारूप दशम आश्चर्य प्रतिदिन अधिक से अधिक रूप में बलिष्ठ हो रहा है, मोहनीय-कर्मरूपी राजा के वे पूर्वोक्त सैन्य चारों ओर फैलकर अपना अधिकार जमा बैठे है। एसे समयमें यदि हमारे मुंहसे 'सदागम-शुद्धमार्ग' वह शब्द भी निकल जाता है तो मोहनीय कर्मरूपी राजा की आज्ञा में सदा तत्पर रहनेवाले आजकल के लोग हमारी कदर्थना-बेहालात-करडालते है॥ यह संसार नगर है, मोहनीय कर्म इसका राजा है, कुसङ्ग इस राजा का सैन्य है, भस्मग्रह महा-सामन्त-महामन्त्री है, और दुष्ट असंयतियों की पूजारूप दशम आश्चर्य उसका दूसरा सामन्त है॥ ४०॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचित सङ्घपट्टक का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ॥
